ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
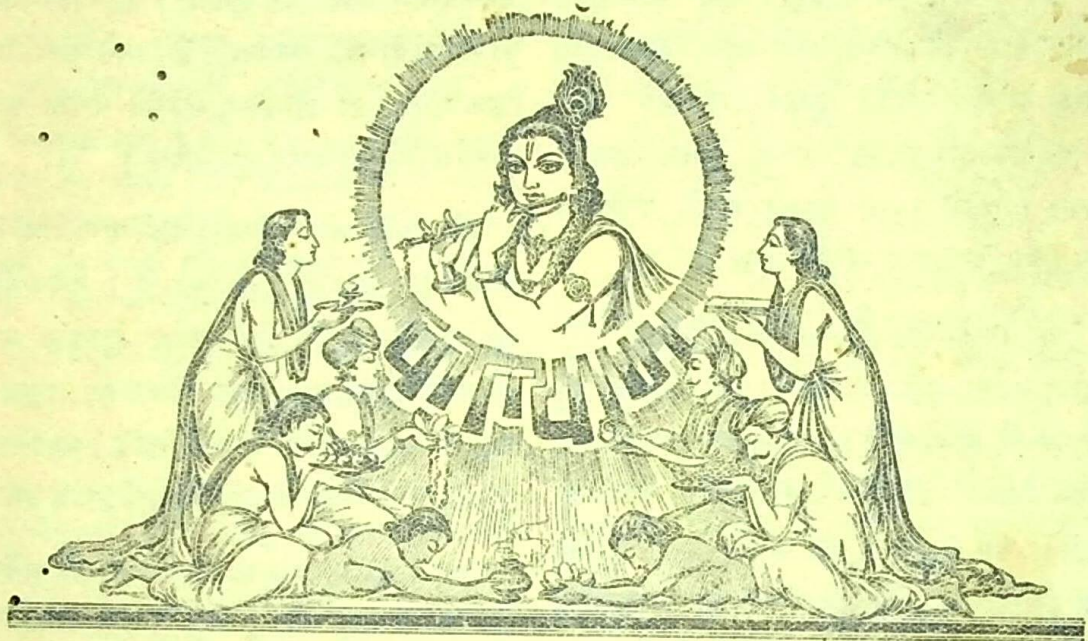
लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम् ।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर वैशाख २०१६, अप्रैल १९५९ { संख्या ४ पूर्ण संख्या ३८९

सब मेरे (भगवान्‌के) अर्पण करो

जो कुछ खाओ, यज्ञ-हवन जो करो, करो जो कुछ तुम दान ।
जो तप करो, करो या कुछ भी, अर्पण करो मुझे सह-मान ॥
मैं स्वीकार करूँगा सभी तुम्हारा समुद स्वयं भगवान ।
मुक्त शुभाशुभ कर्मबन्धसे हो, तुम पाओगे कल्यान ॥

याद रक्खो—यदि तुम्हारा जीवन भोगपरायण रहेगा, तो जीवनमें निराशा बनी रहेगी, जीवन दुखी रहेगा, जीवनमें नये-नये दुष्कर्म होते रहेंगे और मानव-जीवन व्यर्थ ही नहीं जायगा, अनर्थोत्पादक हो जायगा। मरनेके पश्चात् बार-बार आसुरी योनियोंकी और भीषण यन्त्रणामय नरकोंकी प्राप्ति होगी।

याद रक्खो—भोग-परायणता भोगासक्ति तथा भोग-कामना बढ़ाती रहती है। कामना ऐसी आग है जो सदा जलाती ही रहती है। भोगोंकी प्राप्ति हो गयी तो—अग्निमें ईंधन-घी पड़नेपर जैसे अग्नि और भी प्रचण्ड हो जाती है, वैसे ही कामना और भी बढ़ जायगी। कभी तृप्ति होगी ही नहीं। और यदि भोगकी प्राप्ति नहीं हुई, तो चोट खायी हुई कामना ही क्रोधाग्निके रूपमें परिणत होकर सर्वनाश कर देगी। इस प्रकार सदा निराशा और ताप रहेगा।

याद रक्खो—कामना विवेकको हर लेती है, बुद्धि भ्रष्ट कर देती है, आसुरी सम्पदाका आश्रय कराती है, फलतः कर्मफल, परलोक, ईश्वर सबको भूलकर भोग-परायण मनुष्य कामना-पूर्तिके लिये नित्य नये-नये पाप करता है। इस प्रकार सदा अतृप्ति, दुःख तथा पाप उसके नित्य सहचर बन जाते हैं।

याद रक्खो—पापबुद्धि तथा पापकर्म करनेवाला मनुष्य भविष्यमें भी दुःखको ही प्राप्त होता है। यहाँ जलता हुआ जीवनयापन करता है और मरनेके बाद अत्यन्त नीच गतिको प्राप्त होता है। यह मानव-जीवन-की व्यर्थता ही नहीं, अनर्थमयता है। इससे मानव-जीवन केवल असफल ही नहीं होगा, नये-नये पापोंके कारण भीषण अधोगतिका कारण बन जायगा।

याद रक्खो—मानव-जीवनका फल या उद्देश्य भोग है ही नहीं। भोग तो 'दुःखयोनि' हैं। मानव-जीवन सारे दुःखोंसे सदाके लिये सर्वथा छुटकारा पाकर भगवत्प्राप्तिके लिये है। अतएव भोगपरायण मनुष्य तो वास्तवमें मनुष्य कहलाने योग्य ही नहीं है। यह सोचकर तुम भोगपरायणताका त्याग करके भगवत्परायण बनो।

याद रक्खो—भगवत्परायणता आते ही—जीवनमें तुम्हें कर्म बदलने नहीं पड़ेंगे, परंतु तुम्हारा प्रत्येक कर्म अपने आप ही विशुद्ध होकर भगवत्पूजा बन जायगा। भोग-कामना नहीं रहेगी। इससे अतृप्ति, निराशा, दुःख तथा पापसे सहज ही छुटकारा मिल जायगा और तुम्हारे जीवनका असली उद्देश्य सफल हो जायगा। तुम भगवान्‌को या भगवान्‌के विशुद्ध अनन्य प्रेमको प्राप्त करके भागवत-जीवन बन जाओगे।

याद रक्खो—भोगपरायणता ही परम दुर्भाग्य, महान् मूर्खता, भयानक पाप, असीम विपत्ति और भीषण भय है तथा भगवत्परायणता ही परम सौभाग्य, महान् बुद्धिमत्ता, आदर्श महापुण्य, अनन्त सम्पत्ति और नित्य निर्भयपद है। अतः विचार करो और भोगपरायणता छोड़कर भगवत्परायण बनो।

'शिव'

शरीरकी रचना

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारकम्।
अतः प्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञैस्तत्त्वमात्मनः॥

शब्दशास्त्र अपार है और इस कारण वह महान् अरण्यके समान है। अरण्यमें प्रवेश करनेपर भूल हो ही जाती है और इससे चित्त अवश्य ही भ्रममें पड़ जाता है। अतएव समझदार मनुष्य प्रयत्न करके आत्मतत्त्वको जान ले—अर्थात् मैं कौन हूँ और यह शरीर क्या है, यह समझ ले।

यह शरीर क्या है, यह विचार आनेके साथ ही कवि कालिदासकी यह परिचित पंक्ति याद आती है—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

हम मनुष्य हैं; इसलिये यह तो कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि हमारी चर्चा भी मानव-शरीरके सम्बन्धमें ही होगी। तात्पर्य यह है कि धर्मकी साधनाके साधनोंमें शरीर सर्वप्रथम साधन है। अर्थात् शरीरके बिना धर्मकी साधना हो ही नहीं सकती। अब प्रश्न यह है कि धर्मकी साधनासे अभिप्राय क्या है। हमारे शास्त्रोंने मनुष्यके लिये चार पुरुषार्थ बतलाये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमेंसे बीचके दो—अर्थ और काम तो अधिकांशमें प्रारब्धके अधीन हैं; क्योंकि शरीर सुख-दुःखका भोग भोगानेके लिये उत्पन्न होता है और इस कारण वह भोग जन्मके साथ ही निर्मित हुआ होता है। इस बातको समझाते हुए प्रह्लादजी अपने सहाध्यायियोंसे कहते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

भाव यह कि हे दैत्यो! तुमको ईश्वरकी शरण लेकर सुख-दुःखमें समान रहना सीखना चाहिये; क्योंकि सुख और दुःख दोनों अपने ही किये हुए कर्मोंके फलरूपमें जन्मके साथ ही निर्मित हुए होते हैं। जैसे दुःख अनायास आ जाता है, वैसा ही सुखके लिये भी समझना चाहिये; क्योंकि दोनोंका निर्माण दैवके द्वारा ही हुआ होता है।

अब रहे धर्म और मोक्ष; इनकी प्राप्तिके लिये शरीर ही सर्वप्रथम साधन है। अब धर्म-साधनाका अर्थ इतना ही हुआ कि धर्मपरायण जीवन बिताते हुए यथाप्राप्त सुख-दुःखको समानभावसे भोग ले और अन्तिम लक्ष्य मोक्षप्राप्तिका ही रखे। शरीरकी सारी प्रवृत्तियाँ इस प्रकारकी होनी चाहिये कि जिनसे अन्तिम ध्येयको हानि न पहुँचे।

अब दूसरे प्रकारसे देखिये—

महता पुण्यपण्येन क्रीतेयं कायनौस्त्वया।
पारं दुःखोदधेर्यातुं तर यावन्न भिद्यते॥

आशय यह है कि हे भाई! बहुत बड़े पुण्यके प्रभावसे तुझको यह शरीररूपी नौका दुःखके समुद्रको पार करनेके लिये मिली है; इसलिये यह जबतक किसी चट्टान आदिसे टकराकर टूट नहीं जाती, तबतक नदीको पार कर ले। दुःखका समुद्र यह जन्म-मरणरूपी संसार है। जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उठा करती हैं और नाशको प्राप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार संसारमें भी शरीर उत्पन्न हुआ करते हैं और नाशको प्राप्त हो जाते हैं। जन्म-मरणके समान दूसरा कोई भी दुःख नहीं है और दूसरे दुःख भी शरीरके कारण ही प्राप्त होते हैं। इसी कारण संसारको दुःखका समुद्र कहा गया है। इस प्रसङ्गमें भी शरीरको दुःखके समुद्रसदृश जन्म-मरणरूप संसारको तर जानेका साधन ही बताया गया है। धर्मके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति करनेका नाम ही संसार-सागरसे तर जाना है।

अब यह देखना है कि शरीरकी रचना कैसी है। श्रीशंकराचार्य इस सम्बन्धमें कहते हैं—

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवं कर्मसंचितम्।
शरीरं सुखदुःखानां भोगायतनमुच्यते॥

तात्पर्य यह कि यह शरीर आकाशादि पञ्चमहाभूतोंका बना हुआ है। जीवको अनेक जन्मोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फल; सुख-दुःखको भोगनेके लिये एक निश्चित समयके लिये यह प्राप्त हुआ है। सुख-दुःखका भोग भोगना ही पड़ता है। इच्छा हो या न हो, जीवको यह शरीर छोड़ना ही पड़ता है। इसी कारण इसको क्षणभंगुर कहते हैं; क्योंकि किस क्षण भोग समाप्त होगा और शरीर छूट जायगा, इसका पहलेसे ज्ञान नहीं होता। इस स्थितिका वर्णन करते हुए श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

नलिनीदलगतसलिलं तरलम्।
तद्वज्जीवितमतिशयचपलम्॥

कमलकी पँखुड़ीपर पड़ी हुई जलकी एक बूँद जैसे तनिक भी पवनके लगते ही गिर पड़ती है, उसी प्रकार जीवनका अन्त भी क्षणमात्रमें हो जाता है। काल किसीके ऊपर दया नहीं करता।

न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्।

अर्थात् अमुक मनुष्यने अपना हाथमें लिया हुआ काम पूरा कर लिया या नहीं, मृत्यु इसकी राह नहीं देखती। वह तो समय आते ही धड़से शरीरको ले लेती है।

पातञ्जलदर्शनका एक सूत्र कहता है—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥

अर्थात् जबतक कर्मरूपी मूल है, तबतक शरीररूपी फल उत्पन्न होते ही रहते हैं और शरीरके उत्पन्न होनेके पहले ही उसकी जाति, आयु और भोग निश्चित हो जाते हैं। अर्थात् जबतक कर्म है, तबतक जीवको अनेक योनियोंमें शरीर धारण करने पड़ते हैं और निर्मित सुख-दुःखके भोग शरीरकी अवधिपर्यन्त भोगने पड़ते हैं। जैसे बीजमेंसे वृक्ष होता है और वृक्ष फिर नये बीज पैदा करता है, उसी प्रकार कर्ममेंसे शरीर उत्पन्न होता है और शरीरसे फिर नये कर्म होते रहते हैं; अतएव इस चक्रका कभी अन्त नहीं होता। यह बात उत्तरगीताके एक श्लोकमें बहुत ही सरल रीतिसे समझायी गयी है। वह देखनेयोग्य है—

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रिये ते भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरा तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥

'किये गये कर्मोंका फल भोगनेके लिये जीवको शरीर धारण करना पड़ता है और फिर उस शरीरमें आसक्ति होनेसे उसके द्वारा जीव प्रिय और अप्रिय अर्थात् राग-द्वेष-पूर्वक कर्मोंको करता है, जिससे फिर उसे शुभाशुभ कर्मोंका फल भोगनेके लिये दूसरा शरीर धारण करना पड़ता है और फिर उस शरीरसे कर्म होते हैं। इस प्रकार कर्मसे शरीर और शरीरसे कर्म—यों जन्म-मरणका चक्र चलता ही रहता है। इसका अन्त होता ही नहीं।

अब जिस सुख-दुःखका भोग भोगनेके लिये जीव शरीर धारण करता है, उन भोगोंको भोगे बिना काम नहीं चलता। अतएव दुःखका प्रसङ्ग आनेपर व्याकुल होकर क्लेश न उठाये, बल्कि धैर्यपूर्वक शान्तिसे उस भोगको भोग ले।

इस बातको समझानेयोग्य बहुत धैर्य प्रदान करनेवाले इस श्लोकको देखिये—

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

भाव यह कि किये हुए कर्मोंका फल भोगनेसे छुटकारा पानेका कोई भी रास्ता होता तो राजा नल, श्रीरामचन्द्रजी तथा धर्मराज युधिष्ठिरको दुःख नहीं भोगना पड़ता। वे तो बड़े सामर्थ्यवान् पुरुष थे, तथापि प्रारब्ध भोगे बिना चल न सका। फिर भला, अपने-जैसे सामान्य मनुष्यकी तो बात ही क्या। फिर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तो पूर्ण पुरुषोत्तम थे, इसलिये उनको कोई प्रारब्धका भोग हो ही नहीं सकता; तथापि उन्होंने भी सामान्य मनुष्यके समान लीला करके मनुष्यको उपदेश दिया कि 'भाई! प्रारब्धका भोग भोगे बिना किसीके लिये भी छुटकारा नहीं है।'

यहाँतक हमने देखा कि यह शरीर पञ्चमहाभूतोंका पुतला है और सुख-दुःखका भोग भोगनेके लिये जीवको एक निश्चित कालके लिये मिला है। यह अति क्षणभङ्गुर है, तथापि मोक्षकी प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम साधन है तथा इसकी प्राप्ति महापुण्यके प्रतापसे ही होती है। हमने यह भी देख लिया कि मनुष्य-शरीरकी सार्थकता धर्माचरण-द्वारा मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेमें है, विषय-भोग भोगनेमें नहीं; क्योंकि वे तो शरीरके जन्मके साथ ही निश्चित हुए होते हैं। और उनको भोगनेपर ही छुट्टी मिलती है, यह भी हमने देखा।

ऊपर कहा गया है कि यह शरीर पञ्चमहाभूतोंका पुतला है। पञ्चमहाभूत तो जड हैं, यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं। तब फिर उनका कार्य यह शरीर भी जड होना चाहिये। अनुभवमें तो ऐसा देखा जाता है कि वह चेतन है; क्योंकि उसको प्रतिदिन हम काम करते हुए देखते हैं। इसलिये अब यह विचार करना चाहिये कि यह शरीर जड है या चेतन!

अबतक हमने जिस शरीरकी बात की है, उसे स्थूल-शरीर कहते हैं, और वह पञ्च महाभूतोंका कार्य होनेके कारण जड है। यह स्थूलशरीर काम करता दीखता है—इसका कारण यह है कि इसके भीतर एक सूक्ष्मशरीर है, वह इसको चेतनावाला बनाता है। वह सूक्ष्मशरीर भी पञ्च-महाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बना है। अतएव स्वभावसे वह भी जड है; परंतु आत्माका प्रकाश लेकर चेतन आत्माके सकाश-से स्वयं चेतनावान् बनकर स्थूलशरीरको चेतनावान् बनाता है।

इस बातको समझनेके लिये सूक्ष्मशरीरकी रचना जाननी चाहिये। श्रीशंकराचार्यने उसको इस प्रकार समझाया है—

पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम्।
अपञ्चीकृतभूतोत्थं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधनम्॥

अर्थात् पञ्च प्राण, मन तथा बुद्धि, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—इस प्रकार कुल सतरह पदार्थोंका सूक्ष्म-शरीर बनता है और वह पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म अंशोंसे बना होनेके कारण स्वयं सूक्ष्म है, इसलिये सूक्ष्मशरीर कहलाता है। मन और बुद्धिका अन्तःकरणमें समावेश करके कुछ लोग इसको सोलह कलायुक्त अर्थात् सोलह पदार्थोंका बना हुआ कहते हैं और कुछ लोग अन्तःकरणकी चारों वृत्तियों—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारको पृथक्-पृथक् गिन-कर इसे उन्नीस तत्त्वोंका मानते हैं। सूक्ष्मशरीरको सोलह पदार्थोंका बना हुआ मानना अधिक अच्छा है; क्योंकि मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक ही अन्तःकरणकी चार अलग-अलग वृत्तियाँ हैं।

सूक्ष्मशरीर भी स्वभावसे जड है; क्योंकि वह जड पञ्चमहाभूतोंका कार्य है! परंतु मन और बुद्धि पूर्णतया जड भी नहीं हैं, स्वतः चैतन्य भी नहीं हैं, किंतु मध्य भाववाले हैं। अर्थात् आत्माकी चेतनताको धारण करनेमें समर्थ हैं। आत्माकी चेतनताको धारण करके मन और बुद्धि प्राण तथा इन्द्रियोंको चेतनावान् बनाते हैं और उनके द्वारा सारा ही स्थूलशरीर चेतनावान् बन जाता है। हम पहले स्थूल शरीरको भोगायतन अर्थात् भोग भोगनेका स्थान कह चुके हैं उसी प्रकार इस सूक्ष्मशरीरको भोगका साधन-कह आये हैं। इसका अर्थ यह है कि यह भोग भोगवानेका साधन है। हम भोजन करते समय पीढ़ेके ऊपर बैठते हैं, थाली स्थूल शरीरके सामने रखी जाती है। हाथ कौर उठाता है और मुँहमें डालता है। दाँत चबाता है, रसना (जीभ) स्वादका अनुभव करती है। प्राण तृप्तिका अनुभव करते हैं और मन-बुद्धि उसका आनन्द भोगते हैं।

यहाँ एक और बात समझने योग्य है। आत्मा तो सत्तामात्र है, अतएव वह भोगकी ओर निरपेक्षभावसे देखता है। मन और बुद्धि आत्माके सांनिध्यमात्रसे चेतनावान् बनकर सारे शरीरके द्वारा भोजनकी क्रिया कराते हैं और खानेका आनन्द भी मन और बुद्धि ही भोगते हैं। अब आत्मा अनादिकालसे अपने सांनिध्यमें रहनेवाले लगभग अपने ही-जैसे सूक्ष्म मन और बुद्धिको भोग भोगते देखते-देखते उनमें आसक्त हो जाता है। इस आसक्तिके कारण दीर्घकालतक आत्मा अपना स्वरूप भूला रहता है तथा स्वयं ही मानो मन-बुद्धिरूप ही हो जाता है और मन-बुद्धि सारे शरीरमें व्याप्त होकर समस्त शरीररूप बनकर रहते हैं। आत्मा भी सारे शरीरमें व्याप्त रहता है, इसलिये शरीरके धर्मको अपनेमें कल्पित कर लेता है, परिणामस्वरूप जीवभावको प्राप्त होता है।

आत्मा स्वयं जन्म-मरणसे रहित है। तथापि स्थूल-शरीरके जन्म-मरणसे अपनेको जन्म-मरणवाला मानता है। स्थूलशरीरके जन्म लेनेसे स्वयं जन्मका कष्ट उठाता है और स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर स्वयं मरणकी व्यथा भोगता है। प्राणको भूख लगनेसे व्याकुलता होती है, इससे आत्मा स्वयं व्याकुल बन जाता है। स्वयं परम पवित्र होनेपर भी अपवित्र शरीरके सङ्गसे अपनेको अपवित्र मानता है और इस अपवित्रताके निवारणका प्रयत्न भी करता है। स्वयं सुख-स्वरूप है, तथापि शरीरके दुःखसे दुःख पाता है और उसकी निवृत्तिका उपाय करता है। स्वयं असङ्ग होते हुए मनके राग-द्वेषको अपनाकर दुखी होता है। समय बीतते-बीतते आत्मा अपने स्वरूपको सर्वथा भूल जाता है और परधर्मको अपनेमें मान लेता है। इस प्रकार जो आत्माको अपने स्वरूपकी विस्मृति हुई, इसीको अज्ञान या अविद्या कहते हैं। यह अज्ञान कारण-शरीर कहा जाता है; क्योंकि यह जीवके जन्म-मरणका कारणरूप है। आत्मामें तो जन्म-मरण है नहीं; परंतु जबतक अज्ञानके कारण वह अपनेको 'जीव' मानता है, तबतक जन्म-मरणका चक्र चालू रहता है। हमने एक शरीरके विषयमें बात शुरू की थी और तीन शरीर हैं—इस परिमाणपर पहुँचे। कारण-शरीर कोई शरीर नहीं है; परंतु जीवके जन्म-मरणका कारणरूप होनेसे कारण-शरीरके नामसे कथित होता है। यदि यह कारण-शरीर अर्थात् स्वरूपका अज्ञान न हो तो आत्मामें जीवभाव कहाँसे आयेगा। और जीवभाव न हो तो उसका जन्म-मरण कैसे होगा। अतएव इस संसार-चक्रको चालू रखनेमें कारण-शरीरका सबसे बड़ा हाथ है। सूक्ष्मशरीरमें भी मुख्य काम तो मन-बुद्धिका ही है। वे स्वयं अति सूक्ष्म होनेके कारण आत्माके चैतन्यको स्वीकार कर सकते हैं और इससे स्वयं चैतन्य बनकर दोनो शरीरोंको चेतनावान् बनाते हैं। स्थूलशरीर तो सर्वांश-

में जड है; उसको प्रकाश देनेवाला सूक्ष्मशरीर प्रारब्धके भोग समाप्त होनेपर जब उसको छोड़ देता है, तब वह मुर्दा कहलाता है और तब उसको जलाना या गाड़ देना पड़ता है।

हमने निबन्धके प्रारम्भमें शरीरको धर्माचरणके द्वारा मोक्षप्राप्तिका मुख्य साधन कहा है। इसलिये अब यह प्रश्न होता है—'तब क्यों नहीं उस साधनका उपयोग लोग धर्मके द्वारा मोक्षकी प्राप्तिके लिये करते हैं ?'

यह प्रश्न सहज है, अतएव इसका उत्तर श्रुतिने पहलेसे ही दे रखा है। जैसे—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

'पद्मयोनि ब्रह्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख रचा है। इसलिये वे जगत्के विषय-भोगको ही देख सकती हैं—अन्तरात्माको, जो शरीरके भीतर है, नहीं देख सकतीं।' इस प्रकार अनादि कालसे इन्द्रियाँ विषयोंका ही सेवन किया करती हैं। इससे उनकी विषयोंमें आसक्ति हो गयी है। आसक्ति बढ़ जानेके कारण ये उन विषयोंसे ही चिपकी रहती हैं और जीवको खींचकर बलपूर्वक विषय-भोगोंका भोगनेवाला बना देती हैं। इस प्रकार जीव विषयोंमें इतना अधिक आसक्त हो गया है कि उसको विषय-सेवनके सिवा और कुछ सूझता ही नहीं।

इसी बातको समझाते हुए गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

भाव यह है कि हजारों या लाखोंमें कोई एक मनुष्य पूर्व पुण्योंके उदयसे ईश्वर-प्राप्तिके लिये यत्न करता है और इस प्रकारके यत्न करनेवालोंमेंसे कोई एक भाग्यशाली हिम्मत रखकर दृढ़ निश्चयसे साधन करके मेरी प्राप्ति कर सकता है।

जीवको चाहिये कि वह मोक्षकी प्राप्तिके लिये अन्तःकरणको शुद्ध करके अपने सत्य-स्वरूपको समझे। आत्माको जीवभावका अभ्यास सुदीर्घ कालसे है, इसलिये उस अभ्यासकी निवृत्तिके लिये भी सुदीर्घ कालतक आत्मभावका अभ्यास करना चाहिये। अतएव कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह प्रतिदिन प्रातः-सायं एकान्तमें बैठकर भाव और प्रेमपूर्वक नीचे लिखे अनुसार अपने स्वरूपको समझे—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाचमुवाच पुत्रम्॥

हे जीव! तुम अपने मूल स्वरूपको याद कर। मन-बुद्धिका सङ्ग होनेके पहले तू स्वभावसे शुद्ध और निर्विकार था और इस शरीररूपी सांसारिक मायासे असङ्ग—दूर था। यह शरीर तथा इसके सम्पर्कमें आनेवाला यह संसार मायामात्र है, अर्थात् स्वप्न-समान है। नींदसे जागनेपर जैसे स्वप्न अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी निद्रासे ज्ञानरूपी जागृति होनेपर तू देखेगा कि इस संसारके साथ तेरा किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। तू तो संसार तथा शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदिका द्रष्टा पुरुष है और ये सब तेरे दृश्य होनेके कारण तुझसे भिन्न हैं तथा मृगमरीचिकाके समान केवल दीखनेभरके लिये हैं।

इस प्रकार भाव और प्रेमसे निरन्तर एकान्तमें समझानेसे जीव अपने मूल स्वरूपको समझ जायगा। जीवभाव छूट जानेपर अपने-आप निर्विकल्प और निर्विकार तथा असङ्ग स्वरूपमें स्थिर हो जायगा। भ्रमसे ही आत्मा अपनेको जीवरूप मानता था और वही उसका बन्धन था तथा उस भ्रमकी निवृत्ति हो जाना ही आत्माकी मुक्ति है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मैं नित्य शान्तिका अनुभव करता हूँ

भगवान् सर्वलोकमहेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् हैं और वे भगवान् मेरे सुहृद् हैं। उनका मुझपर नित्य अहैतुक स्नेह है। मैं सदा उनके स्नेहसे सिक्त रहता हूँ। इसलिये मेरे समीप न कोई दुःख आ सकता है, न अशान्ति। न पाप आ सकता है, न ताप। भगवान्‌की सुहृदताकी सुधाधारा सदा-सर्वदा मेरे जीवनको आप्लावित रखती है। और मैं उसमें सराबोर हुआ नित्य परम शान्तिका अनुभव करता हूँ।

सुखोंके भेद और यथार्थ सुखकी महत्ता

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है; पर असली सुख किसमें है, इसकी ओर ध्यान न देकर वह मिथ्या सुखमें ही लगा रहता है, जिससे उसे असली सुखकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि बार-बार दुःख ही प्राप्त होता रहता है । अतः मनुष्य-को मिथ्या सुखका त्याग करके सच्चे सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । भगवान्‌ने गीतामें अठारहवें अध्यायके ३६ वेंसे ३९ वें श्लोकोंमें सुखके तीन भेद बतलाये हैं — तामस, राजस और सात्त्विक । इनमेंसे तामस और राजस सुख त्याग करनेके उद्देश्यसे और सात्त्विक सुख सेवन करनेके उद्देश्यसे बतलाया गया है । सात्त्विक सुख, सात्त्विक त्याग, सात्त्विक पदार्थ, सात्त्विक कर्म और सात्त्विक भावोंके सेवनका फल असली सुख है, जो तीनों गुणोंसे अतीत है, परमात्माका स्वरूप है और सब साधनोंका फल है । इसीकी प्राप्तिको परम-पद, परमगति और मुक्तिकी प्राप्ति कहते हैं ।

अब तामस, राजस और सात्त्विक सुखका क्रमशः प्रति-पादन किया जाता है—

१—तामस सुख

तामस सुख मनुष्यको मोहित करनेवाला और महान् हानिकर है, इसलिये उसका त्याग अवश्य ही कर देना चाहिये । तामस सुखका लक्षण भगवान्‌ने गीतामें इस प्रकार बतलाया है—

> यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
> निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम् ॥
> (गीता १८ । ३९)

'जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है ।'

निद्रासे उत्पन्न सुख तामस इसलिये है कि निद्रामें वृत्ति मोहित हो जाती है, इसमें मनुष्यको बाह्यज्ञान नहीं रहता । उस समय स्वप्नमें भी जो चिन्तन होता है, उसमें भी मनुष्य पराधीन रहता है । एवं अधिक सोनेसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म-योग आदि किसी भी योगके साधनकी सिद्धि नहीं होती (गीता ६ । १६) वरं इससे तमोगुण बढ़ता है; इसलिये निद्रासे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है ।

आलस्यके कारण मनुष्य कर्तव्यकर्मोंको करनेमें विलम्ब कर देता है और अकर्मण्यतामें समयको व्यर्थ बिता देता है । एवं कर्तव्य-कर्म करते समय भी मनुष्य तन्द्रामें मग्न रहता है । इससे कर्तव्य-कर्मकी हानि होती है, स्मरण-शक्ति भी कमजोर हो जाती है, मोह, अज्ञान और तमोगुण बढ़ते हैं । इसलिये आलस्यसे उत्पन्न सुखको तामस बतलाया गया है ।

प्रमाद दो प्रकारका होता है—१. करनेयोग्य कर्मको न करना और २. न करनेयोग्यको करना । प्रमादी मनुष्य कहीं तो कर्तव्य-कर्मका त्याग कर देता है, कहीं तिरस्कार कर देता है और कहीं अवहेलना कर देता है । इस तरह कर्तव्य-च्युत होनेसे उसे परिणाममें नरककी प्राप्ति होती है । तथा वह न करने योग्य (पाप) कर्म—शास्त्रनिषिद्ध कर्म तथा व्यर्थ-कर्मका सेवन करता है; इसलिये नरकमें जाता है ।

झूठ-कपट, चोरी-बेईमानी, मांस-भक्षण आदिका सेवन, आत्महत्या या पर-हत्या करना, परस्त्रीगमन आदि दुराचार शास्त्रनिषिद्ध कर्म अर्थात् पापकर्म हैं । बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू, गाँजा, सुल्फा आदि मादक वस्तुओंका सेवन तथा सिनेमा और थियेटर, नाटक आदि खेल-तमाशोंका देखना, चौपड़-ताश और शतरंज आदि खेलना, सभी दुर्व्यसनरूप व्यर्थ-कर्म, शरीरका प्रमाद है ।

दूसरोंकी निन्दा, चुगली, व्यर्थ वार्तालाप, मिथ्या भाषण और कठोर वचन—यह वाणीका प्रमाद है । क्रोध, मोह, मद, दम्भ, दर्प, दुराग्रह, नास्तिकता, क्रूरता, वैर आदि दुर्गुणोंको धारण करना तथा मनसे पापमय वासना और व्यर्थ चिन्तन करना—यह मनका प्रमाद है । अतः तामस सुखके हेतुभूत निद्रा, आलस्य, प्रमाद तथा तामस भोजन (गीता १७ । १०), तामस यज्ञ (गीता १७ । १३), तामस तप (गीता १७ । १९), तामस दान (गीता १७ । २२), तामस कर्म (गीता १८ । २५), तामस त्याग (गीता १८ । ७), तामस ज्ञान (गीता १८ । २२), तामसी बुद्धि (गीता १८ । ३२) और तामसी धृति (गीता १८ । ३५)—ये सभी तामस पदार्थ, तामसी क्रिया और तामस भाव आदि और अन्तमें मोह, अज्ञान और तमोगुणका उत्पादक, नरकदायक एवं महान् हानिकर होनेके कारण इनसे उत्पन्न सुख तामस है । अतः ये सर्वथा त्याज्य हैं ।

विचार करके देखनेपर पता लगता है कि ये सभी वर्तमानमें और परिणाममें दुःख ही देनेवाले हैं; किंतु अज्ञानसे इन दुःखप्रद पदार्थोंमें सुखबुद्धि होनेके कारण सुख प्रतीत होता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। केवल शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर करनेके लिये, उनके विश्रामके लिये अधिक-से-अधिक छः घंटे सोना उपयोगी है। भगवान्ने बतलाया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गीता ६। १७)

'यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही दुःखनाशक योग सिद्ध होता है।'

पर इस उचित शयनकालमें भी इतना सुधार कर लेना परम आवश्यक है कि मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ जो बहिर्मुख हो रही हैं, उनको अन्तर्मुख करके सोना चाहिये। अभिप्राय यह मनमें स्वाभाविक ही जो संसारके पदार्थोंके चिन्तन-का प्रवाह चल रहा है, उसको भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव आदिके चिन्तनमें परिवर्तित करके शयन करना चाहिये। इससे वह शयनकाल भी साधनकालमें परिणत होकर ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि साधनोंमें सहायक हो जाता है एवं छः घंटेका शयनकाल भी सार्थक बन जाता है।

२—राजस सुख

राजस सुख भी परिणाममें हानिकर है, इस कारण उसका भी अवश्य त्याग करना चाहिये। राजस सुखका लक्षण भगवान्ने इस प्रकार बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत् तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यह इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे होनेवाला सुख भी वास्तवमें दुःखरूप ही है। इसमें जो सुखबुद्धि है, वह अज्ञानके कारण ही है। महर्षि पतञ्जलिजीने इसको अविद्या-का ही एक भेद बतलाया है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्याति-रविद्या।
(योगदर्शन २। ५)

"अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी प्रतीति ही 'अविद्या' है।"

अतः संसारके भोगोंमें सुखबुद्धि करना दुःखमें ही सुख-बुद्धि करना है और यह अज्ञान है; क्योंकि संसारके विषय-भोग आरम्भमें सुखप्रद प्रतीत होते हैं, पर वास्तवमें उनमें सुख नहीं है। जैसे फतिंगोंको दीपककी लौमें आरम्भमें सुख प्रतीत होता है, परंतु वह अन्तमें महान् दुःखदायी है; क्योंकि जब दीपककी लौका स्पर्श करनेपर उनके पंख झुलस जाते हैं, तब वे तड़फ-तड़फकर मरते हैं। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न राजस सुख आरम्भमें अमृतके समान दीखते हैं, पर परिणाममें वे विषके समान हैं।

अतएव राजस भोजन (गीता १७। ९) के पदार्थोंका, राजस यज्ञ (गीता १७। १२), राजस तप (गीता १७। १८), राजस दान (गीता १७। २१), राजस कर्म (गीता १८। २४) आदि फलेच्छासे युक्त राजसी क्रियाओंका तथा राजस त्याग (गीता १८। ८), राजस ज्ञान (गीता १८। २१), राजसी बुद्धि (गीता १८। ३१); राजसी धृति (गीता १८। ३४) एवं राग-द्वेष, काम, क्षोभ, मत्सरता, अहंकार, अभिमान, दम्भ, दर्प, मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा, अपवित्रता, विषय-चिन्तन, व्यर्थ आशा, भोगेच्छा, व्यर्थ मनोरथ और अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रहकी इच्छा आदि राजस भावोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

जो भी इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सुख है, वह सब देश, काल और वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है। उदाहरणार्थ, जिह्वाके विषयपर विचार करें। जब हम किसी पदार्थको खाते हैं, तब उसमें जिह्वाको ही सुख मिलता है, कानको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है। तथा भोजनकालमें ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह भोजन करनेका पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है। और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः

वह क्षणिक और अनित्य है; अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य—नाशवान् है, वह असत् है। अर्थात् उसकी केवल प्रतीतिही होती है, वह वास्तवमें नहीं है; क्योंकि सत् होता तो उसका कभी अभाव नहीं होता। भगवान्ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥
(गीता २। १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं होता; इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों-द्वारा देखा गया है।'

इसी प्रकार नेत्रके विषय रूपके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जब हम किसी सुन्दरी स्त्री आदि दृश्यको देखते हैं तो उसमें नेत्रोंको ही सुख मिलता है, जिह्वाको नहीं; इसलिये वह एकदेशीय होनेसे अल्प है। तथा देखनेके समय ही वह सुख मिलता है, अन्य समयमें नहीं; इसलिये वह एककालिक होनेसे अल्प है। एवं वह दृश्य पदार्थ परिमित है, अतः वह वस्तुसे भी अल्प है; और उस पदार्थका क्षय होता रहता है, अतः वह क्षणिक और अनित्य है। अन्तमें वह नष्ट हो जाता है, अतः नाशवान् है। जो अनित्य और नाशवान् है, वह असत् है।

इसी प्रकार खान-पान, भोग-विलास, ऐश-आराम, स्वाद-शौक, हँसी-मजाक, इत्र-फुलैल, नाच-गान, ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, सिनेमा-थियेटर, सर्कस-क्लब आदि अन्यान्य विषयोंमें प्रतीत होनेवाले सभी सुख देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, दुःखदायी, अनित्य और असत् हैं। इनमें केवल भोगकालमें ही सुख प्रतीत होता है, पर इनका परिणाम दुःखदायी और महान् हानिकर है। इसलिये इन विषयजन्य राजस सुखोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

मनुष्यको अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष स्वाभाविक ही होता है। वह जब किसीके साथ वैर-द्वेष करता है और उसकी क्रिया सफल हो जाती है, तब उसे सुख प्रतीत होता है। किंतु जब उसका वैरी या द्वेषी बदला लेता है, उसकी क्रियाका प्रतीकार करता है, तब उसे महान् दुःख होता है। क्योंकि जिस वस्तुमें राग होता है, उसकी प्राप्तिमें क्षणिक सुख होता है; किंतु उसके नाश, वियोग और अभावमें दुःख होता है। जो उसके संयोगमें सुख होता है, वह भी देश, काल, वस्तुसे अल्प, क्षणिक, नाशवान्, अनित्य और असत् है तथा परिणाममें दुःखदायी है, इसलिये सर्वथा त्याज्य है।

मनुष्य किसी स्त्री, पुत्र, धन, मकान, जीवन, आरोग्य, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा करता है; किंतु उसकी इच्छाके अनुसार ही इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाय, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि सभी सुन्दर और युवती स्त्री चाहते हैं, सभी सुपात्र विद्वान् और सेवाभाव-सम्पन्न पुत्र चाहते हैं, सभी धन-मकान आदि सम्पत्ति चाहते हैं, सभी अधिक कालतक जीना चाहते हैं, सभी नीरोग रहना चाहते हैं, सभी मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छा करते हैं; पर ये सब सभीको इच्छानुसार प्राप्त नहीं होते, अतः इच्छा या कामना करनेमें दुःखके सिवा कोई लाभ नहीं है।

मनुष्य कामके वशीभूत होकर स्त्री-सहवास करता है तो उसे क्षणिक सुख मिलता है। पर उसके परिणामस्वरूप उसके बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु, आरोग्य, स्मरणशक्ति और परलोकका विनाश होता है; अतः परिणाममें दुःखदायी ही है।

मनुष्य लोभके वशीभूत होकर झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, दगाबाजी और विश्वासघातपूर्वक व्यापार करता है; अन्यायपूर्वक रुपया बचानेके लिये आय-कर, बिक्री-कर, सम्पत्ति-कर, दान-कर, व्यय-कर, मृत्यु-कर आदि अनेक सरकारी करोंकी स्वयं या सरकारी अधिकारियोंसे मिलकर चोरी करता है; व्यापारमें तौल-माप और संख्यामें अधिक लेता और कम देता है; मुनाफा, आढ़त, दलाली, कमीशन, ब्याज, भाड़ा आदि ठहराकर—तय करके उससे अधिक लेता और कम देता है; रूई, पाट, सुपारी आदि वस्तुओंमें जल छिड़ककर उनका वजन बढ़ा देता है; जीरा, दाल आदिमें मिट्टी-कंकड़, घीमें वनस्पति-तैल, दूधमें पानी, शुद्ध तैलमें व्हाइट ऑयल आदि वस्तुओंको मिलाकर उन-को दूषित कर देता है; बढ़िया वस्तु दिखाकर घटिया देता है एवं अन्यान्य अन्यायपूर्ण उपायोंद्वारा रुपये एकत्र करता है। उसमें उसे आरम्भमें तो सुख प्रतीत होता है; पर अन्तमें इस लोकमें निन्दा, अपमान और बेइज्जती होती है तथा परलोकमें दुर्गतिरूप भयानक कष्ट प्राप्त होता है।

मनुष्य दूसरोंकी उन्नति देखकर डाह करता है, उनको नीचा दिखाने और नीचे गिरानेकी चेष्टा करता है, तब उसे कार्यकी सफलतामें सुख-सा प्रतीत होता है। पर जब उसकी

चेष्टा व्यर्थ हो जाती है, तब उसके हृदयमें जलन पैदा हो जाती है। अतः उसका परिणाम भी दुःखदायी ही है।

इसी प्रकार जो नाम, जाति, देश, धन, विद्या, बल, आयु और श्रेष्ठता आदि किसी भी प्रकारका अभिमान या घमंड है, उसमें थोड़े कालके लिये ही सुख प्रतीत होता है; पर उसका फल दुःखदायक और नाशवान् है, अतः वह अनित्य और असत् है।

इसी तरह अन्य सभी राजस सुख, पदार्थों, क्रियाओं और भावोंके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिये।

गीतामें भगवान्ने जहाँ-जहाँ राजस और तामस सुख, पदार्थ, क्रिया और भावोंका वर्णन किया है, वह उनका त्याग करानेके उद्देश्यसे ही किया है। अतः उन सबका त्याग कर देना चाहिये। एवं सात्त्विक सुख, पदार्थ, क्रिया और भाव मुक्तिमें सहायक और इहलोक तथा परलोकमें हितकारक होनेके कारण भगवान्ने उनका वर्णन ग्रहण करानेके उद्देश्यसे ही किया है।

३—सात्त्विक सुख

सात्त्विक सुखके लक्षण भगवान्ने इस प्रकार बतलाये हैं—

अभ्यासाद् रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥
(गीता १८ । ३६-३७)

'जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान, तीर्थ, व्रत, तप, उपवास और सेवादिके अभ्याससे सुखका अनुभव करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है, जो ऐसा सुख है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत होता है, परंतु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है।'

कर्मयोग, भक्तियोग या ज्ञानयोगके साधनसे मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये इन साधनोंमेंसे किसी भी साधनका निष्कामभावसे तत्परताके साथ अभ्यास करना चाहिये; क्योंकि इन साधनोंके अनुसार भजन, ध्यान, यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास, सेवा आदिका अभ्यास करनेसे ही अन्तःकरण शुद्ध होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होती है और सात्त्विक सुखकी प्राप्ति होनेपर समस्त दुःखोंका अत्यन्त अभाव होकर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उसे परमानन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने कहा है—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक तो अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है।'

मनुष्यकी स्वाभाविक ही सांसारिक क्रियाओंमें और विषयभोगरूप पदार्थोंमें आसक्ति रहती है; इस कारण सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंके सेवनमें प्रथम कठिनता प्रतीत होती है, इसीलिये उसको आरम्भमें विषके समान बतलाया गया है। किंतु उन सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन करते-करते अन्तमें उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर पूर्ण सात्त्विक सुख प्राप्त हो जाता है, इसलिये सात्त्विक सुखको अमृतके समान बतलाया गया है।

अतएव सात्त्विक भोजन (गीता १७ । ८) के पदार्थोंका तथा सात्त्विक यज्ञ (गीता १७ । ११), सात्त्विक तप (गीता १७ । १४—१७), सात्त्विक दान (गीता१७ । २०); सात्त्विक कर्म (गीता १८ । २३) आदि सात्त्विक क्रियाओंका सम्पादन एवं सात्त्विक त्याग (गीता १८ । ९), सात्त्विक ज्ञान (गीता १८ । २०), सात्त्विकी बुद्धि (गीता १८ । ३०), सात्त्विकी धृति (गीता १८ । ३३) आदि सात्त्विक भावोंका सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर सात्त्विक सुखकी प्राप्ति हो जाती है; फिर परमात्मामें बुद्धि स्थिर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जैसे गीता अ० १३ श्लो० ७ से ११ तक वर्णित ज्ञानके साधन और अ० १६ श्लो० १ से ३ तक वर्णित दैवीसम्पदाके गुण-आचरणोंका पालन मुक्तिदायक है, उसी प्रकार सात्त्विक पदार्थों, क्रियाओं और भावोंका सेवन भी मुक्तिदायक है; अतः इनका सेवन करना परम आवश्यक है।

किंतु मनुष्यको इनका सेवन करते समय अपनेको कृतकृत्य नहीं मान लेना चाहिये और इनमें आसक्त भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि इनसे उत्पन्न ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेपर आगे बढ़नेमें रुकावट हो सकती है। भगवान्‌ने भी अर्जुनसे कहा है—

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(गीता १४। ६)

'हे निष्पाप अर्जुन! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है। वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है।

अतः इस बातपर विशेष ध्यान रखना चाहिये कि सात्त्विक पदार्थों, सात्त्विक क्रियाओं और सात्त्विक भावोंका सेवन तो करें, परंतु सेवन करके अपनेमें सात्त्विकताका—अच्छेपनका अभिमान न करें।

उपर्युक्त तामस, राजस और सात्त्विक भावों आदिकी पहचानके लिये इनका परस्पर भेद समझना आवश्यक है। तमोगुणमें मोह और अज्ञान अधिक है, बुद्धिका प्रकाश बहुत ही कम है और उत्तम क्रियाका अभाव है; किंतु रजोगुणमें तमोगुणकी अपेक्षा मोह और अज्ञान कम है, बुद्धिका प्रकाश कुछ अधिक है और सकामभावसे उत्तम क्रियाओंका बाहुल्य है। इस लिये तमोगुणकी अपेक्षा रजोगुण श्रेष्ठ है। किंतु रजोगुणकी अपेक्षा सत्त्वगुण तो बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें मोह और अज्ञान लेशमात्र हैं, बुद्धिका अतिशय प्रकाश है और क्रिया उत्तम तथा निष्काम भावसे होती है।

अतएव जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव हिंसा, मोह और प्रमादसे युक्त हो तथा जिसका फल दुःख और अज्ञान हो, उसको तामस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव लोभ, स्वार्थ और आसक्तिसे युक्त हो तथा जिसका फल क्षणिक सुखकी प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो, उसको राजस समझना चाहिये। जो पदार्थ, क्रिया अथवा भाव स्वार्थ, आसक्ति और ममतासे युक्त न हो तथा जिसका अन्तिम फल परमात्माकी प्राप्ति हो, उसको सात्त्विक समझना चाहिये।

४—यथार्थ सुख

यद्यपि उपर्युक्त सात्त्विक सुख भी सत्त्वगुणसे सम्बन्ध रखनेवाला होनेके कारण असली सुखकी अपेक्षा अल्प, अनित्य और मायिक ही है, तथापि सात्त्विक पदार्थोंके सेवन, सात्त्विक क्रियाओंके आचरण और सात्त्विक भावोंके धारणको असली सुखकी प्राप्तिमें हेतु होनेके कारण 'कर्तव्य' बतलाया गया है; किंतु इनका सेवन करते समय उसमें रसास्वादका अनुभव करते हुए रमण नहीं करना चाहिये, प्रत्युत परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुखको लक्ष्यमें रखकर तथा स्वार्थ, आसक्ति और अभिमानसे रहित होकर साधन करते ही रहना चाहिये। इस प्रकार साधन करते-करते परमात्माकी प्राप्तिरूप असली सुख प्राप्त हो जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत् सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २०-२१)

'जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।

'बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँ 'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्' में वर्णित 'सुख' 'ध्यानजनित सात्त्विक सुख'का वाचक है और 'सुखमक्षयमश्नुते' में वर्णित सुख 'परमात्माकी प्राप्ति'रूप यथार्थ सुखका वाचक हैं; क्योंकि इसमें 'सुख'का विशेषण 'अक्षय' दिया गया है।

इसी प्रकार—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(गीता ५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें आत्मामें सुखवाले योगीको निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति होनेका वर्णन है; इसलिये यह सुख साधनकालका होनेसे सात्त्विक है। किंतु निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति ही यथार्थ सुख है।

तथा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥
(गीता ३ । १७)

'परंतु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है।'

इस श्लोकमें आत्मसंतुष्ट पुरुषके कर्तव्यका अभाव बतलाया गया है, इसलिये यह 'आत्म-संतुष्टिरूप' सुख 'परमात्मप्राप्ति'-रूप सुख है! एवं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २१-२२)

'इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है, उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्म-प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता (उसको जानना चाहिये)।

यहाँ बतलाया हुआ सुख परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है; क्योंकि इसका विशेषण 'आत्यन्तिक' दिया गया है और यह कहा गया है कि ऐसे सुखको प्राप्त पुरुष भारी दुःख प्राप्त होनेपर भी उस परमात्मप्राप्तिरूप सुखसे विचलित नहीं होता।

इसी प्रकार भगवान्ने गीता अध्याय ६ श्लोक २७-२८ में बतलाया है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥

'क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन-ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

यहाँ २७ वें श्लोकमें सुखका 'उत्तम' विशेषण और २८ वेंमें 'अत्यन्त' तथा 'ब्रह्मसंस्पर्श' विशेषण दिया गया है, अतः यह परमात्माकी प्राप्तिरूप सुख है।

इसी प्रकार भगवान्ने जो यह कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

'क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ।'

इसमें 'सुख' का विशेषण 'ऐकान्तिक' दिया गया है, अतः यह भी परमात्मस्वरूप सुख है।

इसी यथार्थ सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिको गीतामें कहीं 'ब्रह्मनिर्वाण' (गीता ५ । २४), कहीं 'निर्वाणपरमा शान्ति' (गीता ६ । १५), कहीं 'परम गति' (गीता ८ । १३), कहीं 'अमृत' (गीता १३ । १२), कहीं 'अव्यय पद' (गीता १५ । ५), कहीं 'परमधाम' (गीता १५ । ६), कहीं 'संसिद्धि' (गीता १८ । ४५), कहीं 'परम शान्ति' और 'शाश्वत स्थान' (गीता १८ । ६२) आदि नामोंसे कहा गया है।

अतएव मनुष्यजीवनका समय बहुत ही अमूल्य और क्षणिक है—यों समझकर, ममता-आसक्ति और अभिमानको छोड़कर विवेक-वैराग्ययुक्त चित्तसे उपर्युक्त यथार्थ सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे मनुष्यको शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानयोग (गीता १८ । ५१–५५), भक्तियोग (गीता ११ । ५४–५५), कर्मयोग (गीता २ । ४७–५१) और अष्टाङ्गयोग (गीता ५ । २७–२८) आदि अनेक साधनोंमेंसे किसीका भी अनुष्ठान करनेके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतापूर्वक प्राणपर्यन्त शीघ्रातिशीघ्र प्रयत्न करना चाहिये।

हम दुखी क्यों हैं ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

हम रात-दिन जीतोड़ परिश्रम करते हैं—चोटीका पसीना एड़ीतक बहा लेते हैं। यह क्यों ? केवल सुखके लिये—मैं सुखी हो जाऊँ, मेरी स्त्री सुखी रहे, मेरा लड़का सुखी रहे इत्यादिके लिये। दुःखको तो हम देखना भी नहीं चाहते। पर क्या सुख हमें इच्छानुसार मिल ही जाता है, अथवा क्या हम दुःखसे कभी अपना पिण्ड छुड़ा सके हैं ? कभी नहीं। चाहते हैं सुख; पर दुःख आकर घेर लेता है। नाना प्रकारकी कामनाएँ मनमें आती रहती हैं, उनके चिन्तनमें ही रात-दिन एक कर देते हैं; पर उनमेंसे अधिकांश कामनाएँ मनमें ही मिटकर रह जाती हैं। यदि हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो जायँ तो यह दुनिया और-की-और ही हो जाय।

उपनिषद्का वाक्य है कि जिस प्रकार अनन्त आकाशको चमड़ेकी तरह लपेट लेना असम्भव है, वैसे ही परमात्मा अथवा आत्माके ज्ञानके बिना दुःखका नाश असम्भव है। दुःखका नाश तो तभी सम्भव है, जब हम अपने स्वरूपको तत्त्वसे जान लेंगे।

दुःख-सुख वास्तवमें है क्या—यह जान लेना भी सुखकी प्राप्तिमें और दुःखको दूर करनेमें सहायक है। प्रायः हम कहा करते हैं कि दुःख-सुख प्रारब्धका भोग है, इसलिये बिना भोगे यह दूर होनेको नहीं। पुण्यका फल सुख और पापका फल दुःख हमें भोगना ही पड़ेगा। पर विचार करनेसे यह बात जँचती नहीं। सुख-दुःख प्रारब्ध नहीं हैं—ये तो केवल अपने मनकी मान्यताएँ हैं। प्रारब्ध तो केवल परिस्थितिको लाकर सामने उपस्थित कर देता है। पर उसमें सुख या दुःख मान लेना यह तो प्रारब्धका नहीं—मनका काम है। सुनते हैं कि नारदजीकी माता मर गयी तो वे बहुत प्रसन्न हुए। वैसे ही नरसी भगत भी अपने एकमात्र पुत्रकी अचानक मृत्युपर दुखी नहीं हुए, किंतु भगवान्की लीलाको जानकर नाचने लगे। हम भी ऐसे ही कर सकते हैं। इस लेखके दीन लेखकने अपनी आँखोंसे कितने ऐसे स्त्री-पुरुषोंको देखा है, जो विकट-से-विकट परिस्थिति पड़नेपर भी मनमें विकार नहीं उत्पन्न होने देते। अतः यह सिद्ध हो जाता है कि जिसको सुख-दुःखका विवेक है, वही प्रतिकूल परिस्थितिमें भी प्रसन्न रह सकता है। ऐसे पुरुष वास्तवमें पूज्य हैं—उन्हींके लिये दुःख भी दास बनकर सुखके रूपमें बदल जाता है।

जो भाग्यवादी हैं, उनको चाहिये कि प्रतिकूल तथा अनुकूल परिस्थितिमें पूर्ण शान्त बने रहें, चिन्ता और भयको पास नहीं फटकने दें। जो होनेको होगा, वह तो होकर ही रहेगा और जो होनेका नहीं, वह लाख उपाय करनेपर भी नहीं होगा। फिर हम सिर क्यों फोड़ें। अपने कर्तव्यका पालन उचित रीतिसे करते रहना चाहिये। फल तो कर्मके अनुसार मिलता ही रहेगा। अपने मनको ऐसा दृढ़ बना लीजिये कि वह पदार्थोंके आनेपर फूल न जाय और उनके चले जानेपर उदास न हो। यही तो योग है। घर बैठे योगी बन जाइये। एक संतने कितना सुन्दर कहा है—

> आवत हर्ष न ऊपजै, जावत सोक न होय।
> ऐसी रहनी जो रहै, घरमें जोगी सोय॥

ऐसे ही यदि आप ईश्वरभक्त हैं तो जैसी भी परिस्थिति आ पड़े—अनुकूल चाहे प्रतिकूल, उसको आप प्रभुका प्रसाद समझकर प्रसन्नतापूर्वक स्वागत करें। वे परम सुहृद् हैं; जो कुछ करते हैं, सब आपके हितके लिये ही। कोई भी माँ-बाप अपनी संतानका अहित नहीं चाहता। फिर जो सारे जगत्के पिता हैं, सर्वसामर्थ्यवान्, भक्तवत्सल और स्वार्थरहित हैं—वे अपने दासका अहित कैसे कर सकते हैं। वे तो पग-

पगपर क्षण-क्षणमें हमारे कल्याणके लिये ही सुख-दुःखका नया-नया विधान बनाते रहते हैं। वह भक्त नहीं, जो भगवान्‌के दिये हुए परम प्रसाद—सुख-दुःखको स्वीकार करनेके लिये तैयार न हो। भगवान् तो परम कृपा करके हमारे उत्थानके लिये ही सुख-दुःख भेजा करते हैं।

इस प्रकारसे विचार करनेपर सिद्ध हो जाता है कि ईश्वरकी कृपापर निर्भर रहनेवाला भक्त तथा प्रारब्धवादी मनुष्य सुख-दुःखकी परवा नहीं करता। अतः दुःख भी उससे दूर ही भागता रहता है। दुःख और मृत्यु—ये दोनों उन्हींके पास दौड़ते हैं, जो इनसे भय खाता है। जरा अकड़कर खड़े हो जाइये—तो दुःख भी दुम दबाकर भाग जायगा।

जो भी मनुष्य सुख चाहता हो, उसे संसारसे कुछ भी लेनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये। इस क्षणभङ्गुर तथा अनित्य संसारसे मिल ही क्या सकता है। जो कुछ भी मिलेगा, उससे वियोग तो अवश्य होगा। और वियोगमें ही दुःख निहित है। अतः सबकी सेवा तत्परतापूर्वक करते चले जाइये, पर उसके बदलेमें कुछ लीजिये नहीं तो आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पाससे कहीं जायगी नहीं। सभी आपसे प्रेम करेंगे तथा उनकी सद्भावना मिलते रहनेसे आपका जीवन सुखपूर्ण हो जायगा। काम, क्रोध, लोभ—ये आपके अन्तःकरणसे निकलकर नष्ट हो जायँगे और आपका हृदय प्रभुका मन्दिर बन जायगा। आप संसारके ऋणसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जायँगे। सदा स्मरण रखिये—'प्रतिकूल परिस्थिति प्रभुका प्रसाद है।'

गीतामें स्वधर्मका स्वरूप

(लेखक—श्रीमिश्रीलालजी ऐडवोकेट)

जिज्ञासा

'कल्याण' अङ्क ८ सन् १९५८ के 'गीतामें श्रेयःका प्रश्न' शीर्षक लेखमें दिखलाया गया था कि श्रेयःसिद्धिका साधन 'स्वधर्म' का पालन है। उसके अतिरिक्त भी श्रीमद्‌भगवद्गीतामें 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के सिद्धान्तानुसार स्वधर्मके पालनमें प्राणोंतकके चले जानेकी चिन्ता न करनेका उपदेश है और यह भी आदेश है—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' अर्थात् स्वधर्मको सदोष होनेपर भी न त्यागे। उधर स्वधर्मकी अदम्य प्रवृत्तिका इतना बलवती होना वर्णन किया है—

> सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
> प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥
>
> (गीता ३। ३३)

अर्थात् प्राणिमात्र प्रकृतिके अनुकूल आचरण करते हैं। एक ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुकूल ही चलता है। कारण कि भूतमात्र प्रकृतिके वशमें हैं और प्रकृतिकी प्रवृत्तिको रोकनेमें समस्त प्रयास प्रायः व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कह दिया था—

> यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
> मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
> स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
> कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥
>
> (गीता १८। ५९-६०)

अर्जुन! यदि तुझे यह अहंकार हो कि युद्धमें प्रवृत्त होना अथवा न होना तेरे हाथमें है तो तेरा यह विचार और प्रयास व्यर्थ है। तेरे क्षत्रियधर्मका स्वभाव तुझे युद्ध करनेके लिये विवश कर देगा। स्वाभाविक प्रवृत्तिमें अदम्य शक्ति होती है। श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन सच्चा क्षत्रिय है, एवं अवसरपर उन्होंने अर्जुनसे कहा था—

> मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥
>
> (गीता १६। ५)

'अर्जुन! तू शोक मत कर, दैवी गुणोंके प्रभावसे तेरी प्रकृति ओतप्रोत है।' निष्कर्ष यह है कि जब स्वधर्मकी इतनी महिमा और प्राणिमात्रमें इतनी शक्ति है, तब उससे लाभ उठानेके लिये उसके स्वरूप और तत्त्वसे भलीभाँति परिचित होना चाहिये

स्वधर्मका स्वरूप

स्वधर्मका शब्दार्थ तो बहुत सरल प्रतीत होता है, परंतु उसका भाव कुछ गूढ़ है। 'धर्म' शब्दके भी अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होनेके कारण किसी विशेष स्थानपर उसके सही अर्थको न समझकर दूसरा अर्थ लगानेसे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अतः गीतामें वर्णित 'स्वधर्म' शब्दके असली भावको समझनेमें भी कठिनाई रहती है।

यहाँपर स्वधर्मका अभिप्राय किसी मत-मतान्तरसे नहीं है; उससे हिंदू, मुसल्मान, ईसाई आदिका मतलब नहीं समझना चाहिये। गीतामें 'स्वधर्म' शब्द स्वाभाविक कर्तव्य कर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी एवं डाक्टर, वैद्य, दूकानदार, अध्यापक, जज आदिके नामको सार्थक करनेवाले उनके स्वाभाविक सच्चे गुणोंका समावेश हो। 'स्वधर्म' शब्दका ऐसा ही अर्थ होनेका प्रमाण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशमें मिलता है, जो उन्होंने अर्जुनको दिया था। इसमें कहा गया है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २। ३१)

'स्वधर्मके विचारसे भी तुझे युद्धसे नहीं हटना चाहिये। धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म क्षत्रियके लिये नहीं है।' पुनः कहा गया है—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः **स्वधर्मं** कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३३)

'यदि तू इस धर्मयुद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्मसे च्युत हो जायगा और पाप तथा अपकीर्तिका भागी बनेगा।'

स्वधर्मको सहज धर्म अथवा सहज कर्म भी कहते हैं। सहजका शब्दार्थ तो है—जो जन्मके साथ उत्पन्न हो; परंतु व्यक्तमें उन प्रवृत्तियोंको भी, जो जन्मके पश्चात् स्वभावका अङ्ग बन जाती हैं, सहजधर्म कहा करते हैं। गूढ़-भाव यह है कि स्वधर्मको स्वभावका अङ्ग होना चाहिये और उसके पालनमें कर्तव्यपरायणताकी भावना इतनी प्रबल होनी आवश्यक है कि मनुष्य स्वधर्मके त्याग और अवहेलनाको मृत्युसे अधिक दुःखदायक समझे।

यहाँपर यह शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि यदि स्वभावाङ्ग होना स्वधर्मका लक्षण है और उसे सदोष होनेपर भी त्यागना नहीं चाहिये तो दैवी गुणोंसे युक्त स्वधर्मके पालनार्थ तो यह नियम उचित है परंतु क्या काम, क्रोधादि आसुरी गुणोंके स्वभावाङ्ग बन जानेपर भी 'न त्यजेत्' का सिद्धान्त लागू होगा?

इस शङ्काका समाधान गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके निम्नलिखित वाक्योंसे होता है। उन्होंने कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'आसुरी स्वभाववाले मूर्ख प्राणी भगवान्‌को न पाकर जन्म-जन्मान्तरमें अधम योनियोंमें भ्रमते रहते हैं।' पुनः कहा है कि आसुरी प्रकृतिके मूल कारण, नरकके तीन द्वार काम, क्रोध और लोभ हैं। अतः—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'नरकके तीनों द्वार काम, क्रोध और लोभसे जो बचा रहता है, उसकी आत्माका कल्याण होता है और वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि आसुरी प्रकृतिके गुण स्वभावाङ्ग हो जानेपर 'स्वधर्म' की परिभाषामें नहीं आते। वे तो निषिद्ध कर्म हैं और त्याज्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने तो यह कहा है कि निषिद्ध कर्म ही नहीं, अपितु समस्त काम्यकर्मोंको, जो मन और इन्द्रियोंकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, त्याग देना चाहिये। करनेके कर्म तो उन्होंने केवल वे बतलाये हैं, जो यज्ञ, दान और तपकी परिभाषामें आ जाते हैं। यज्ञ, दान और तपको उन्होंने **'पावनानि मनीषिणाम्'**—मननशील पुरुषोंको पवित्र कर देनेवाला बतलाया है। परंतु उसके साथ यह भी कहा है कि उनके करनेमें स्वार्थको स्थान नहीं, भोग-विलास अथवा लोकैषणा उनका उद्देश्य नहीं और स्वर्ग-प्राप्तिकी कामनाका भी उनमें प्रवेश नहीं। तीनों निस्स्वार्थभावसे लोक-कल्याणके लिये किये जाते हैं। भेद केवल इतना है कि तप व्यक्तिगत उत्थानके लिये, दान दूसरोंकी उन्नतिके लिये और यज्ञ

पगपर क्षण-क्षणमें हमारे कल्याणके लिये ही सुख-दुःखका नया-नया विधान बनाते रहते हैं। वह भक्त नहीं, जो भगवान्‌के दिये हुए परम प्रसाद—सुख-दुःखको स्वीकार करनेके लिये तैयार न हो। भगवान् तो परम कृपा करके हमारे उत्थानके लिये ही सुख-दुःख भेजा करते हैं।

इस प्रकारसे विचार करनेपर सिद्ध हो जाता है कि ईश्वरकी कृपापर निर्भर रहनेवाला भक्त तथा प्रारब्धवादी मनुष्य सुख-दुःखकी परवा नहीं करता। अतः दुःख भी उससे दूर ही भागता रहता है। दुःख और मृत्यु—ये दोनों उन्हींके पास दौड़ते हैं, जो इनसे भय खाता है। जरा अकड़कर खड़े हो जाइये—तो दुःख भी दुम दबाकर भाग जायगा।

जो भी मनुष्य सुख चाहता हो, उसे संसारसे कुछ भी लेनेकी आशा नहीं रखनी चाहिये। इस क्षणभङ्गुर तथा अनित्य संसारसे मिल ही क्या सकता है। जो कुछ भी मिलेगा, उससे वियोग तो अवश्य होगा। और वियोगमें ही दुःख निहित है। अतः सबकी सेवा तत्परतापूर्वक करते चले जाइये, पर उसके बदलेमें कुछ लीजिये नहीं तो आप देखेंगे कि प्रसन्नता आपके पाससे कहीं जायगी नहीं। सभी आपसे प्रेम करेंगे तथा उनकी सद्भावना मिलते रहनेसे आपका जीवन सुखपूर्ण हो जायगा। काम, क्रोध, लोभ—ये आपके अन्तःकरणसे निकलकर नष्ट हो जायँगे और आपका हृदय प्रभुका मन्दिर बन जायगा। आप संसारके ऋणसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जायँगे। सदा स्मरण रखिये—'प्रतिकूल परिस्थिति प्रभुका प्रसाद है।'

गीतामें स्वधर्मका स्वरूप

(लेखक—श्रीमिश्रीलालजी ऐडवोकेट)

जिज्ञासा

'कल्याण' अङ्क ८ सन् १९५८ के 'गीतामें श्रेयःका प्रश्न' शीर्षक लेखमें दिखलाया गया था कि श्रेयःसिद्धिका साधन 'स्वधर्म' का पालन है। उसके अतिरिक्त भी श्रीमद्भगवद्गीतामें 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के सिद्धान्तानुसार स्वधर्मके पालनमें प्राणोंतकके चले जानेकी चिन्ता न करनेका उपदेश है और यह भी आदेश है—'सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्' अर्थात् स्वधर्मको सदोष होनेपर भी न त्यागे। उधर स्वधर्मकी अदम्य प्रवृत्तिका इतना बलवती होना वर्णन किया है—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३। ३३)

अर्थात् प्राणिमात्र प्रकृतिके अनुकूल आचरण करते हैं। एक ज्ञानवान् पुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुकूल ही चलता है। कारण कि भूतमात्र प्रकृतिके वशमें हैं और प्रकृतिकी प्रवृत्तिको रोकनेमें समस्त प्रयास प्रायः व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कह दिया था—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(गीता १८। ५९-६०)

अर्जुन! यदि तुझे यह अहंकार हो कि युद्धमें प्रवृत्त होना अथवा न होना तेरे हाथमें है तो तेरा यह विचार और प्रयास व्यर्थ है। तेरे क्षत्रियधर्मका स्वभाव तुझे युद्ध करनेके लिये विवश कर देगा। स्वाभाविक प्रवृत्तिमें अदम्य शक्ति होती है। श्रीकृष्ण जानते थे कि अर्जुन सच्चा क्षत्रिय है, एवं अवसरपर उन्होंने अर्जुनसे कहा था—

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

(गीता १६। ५)

'अर्जुन! तू शोक मत कर, दैवी गुणोंके प्रभावसे तेरी प्रकृति ओतप्रोत है।' निष्कर्ष यह है कि जब स्वधर्मकी इतनी महिमा और इतनी शक्ति है, तब उससे लाभ उठानेके लिये प्राणिमात्रको उसके स्वरूप और तत्त्वसे भलीभाँति परिचित होना चाहिये

स्वधर्मका स्वरूप

स्वधर्मका शब्दार्थ तो बहुत सरल प्रतीत होता है, परंतु उसका भाव कुछ गूढ़ है। 'धर्म' शब्दके भी अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होनेके कारण किसी विशेष स्थानपर उसके सही अर्थको न समझकर दूसरा अर्थ लगानेसे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अतः गीतामें वर्णित 'स्वधर्म' शब्दके असली भावको समझनेमें भी कठिनाई रहती है।

यहाँपर स्वधर्मका अभिप्राय किसी मत-मतान्तरसे नहीं है; उससे हिंदू, मुसल्मान, ईसाई आदिका मतलब नहीं समझना चाहिये। गीतामें 'स्वधर्म' शब्द स्वाभाविक कर्तव्य कर्मके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जिसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी और संन्यासी एवं डाक्टर, वैद्य, दूकानदार, अध्यापक, जज आदिके नामको सार्थक करनेवाले उनके स्वाभाविक सच्चे गुणोंका समावेश हो। 'स्वधर्म' शब्दका ऐसा ही अर्थ होनेका प्रमाण गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशमें मिलता है, जो उन्होंने अर्जुनको दिया था। इसमें कहा गया है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(गीता २। ३१)

'स्वधर्मके विचारसे भी तुझे युद्धसे नहीं हटना चाहिये। धर्मयुद्धसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म क्षत्रियके लिये नहीं है।' पुनः कहा गया है—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
(गीता २। ३३)

'यदि तू इस धर्मयुद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्मसे च्युत हो जायगा और पाप तथा अपकीर्तिका भागी बनेगा।'

स्वधर्मको सहज धर्म अथवा सहज कर्म भी कहते हैं। सहजका शब्दार्थ तो है—जो जन्मके साथ उत्पन्न हो; परंतु व्यक्तमें उन प्रवृत्तियोंको भी, जो जन्मके पश्चात् स्वभावका अङ्ग बन जाती हैं, सहजधर्म कहा करते हैं। गूढ़-भाव यह है कि स्वधर्मको स्वभावका अङ्ग होना चाहिये और उसके पालनमें कर्तव्यपरायणताकी भावना इतनी प्रबल होनी आवश्यक है कि मनुष्य स्वधर्मके त्याग और अवहेलनाको मृत्युसे अधिक दुःखदायक समझे।

यहाँपर यह शङ्का उठनी स्वाभाविक है कि यदि स्वभावाङ्ग होना स्वधर्मका लक्षण है और उसे सदोष होनेपर भी त्यागना नहीं चाहिये तो दैवी गुणोंसे युक्त स्वधर्मके पालनार्थ तो यह नियम उचित है परंतु क्या काम, क्रोधादि आसुरी गुणोंके स्वभावाङ्ग बन जानेपर भी 'न त्यजेत्' का सिद्धान्त लागू होगा?

इस शङ्काका समाधान गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके निम्नलिखित वाक्योंसे होता है। उन्होंने कहा है—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
(गीता १६। २०)

'आसुरी स्वभाववाले मूर्ख प्राणी भगवान्‌को न पाकर जन्म-जन्मान्तरमें अधम योनियोंमें भ्रमते रहते हैं।' पुनः कहा है कि आसुरी प्रकृतिके मूल कारण, नरकके तीन द्वार काम, क्रोध और लोभ हैं। अतः—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'नरकके तीनों द्वार काम, क्रोध और लोभसे जो बचा रहता है, उसकी आत्माका कल्याण होता है और वह परमगतिको प्राप्त होता है।'

इन उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि आसुरी प्रकृतिके गुण स्वभावाङ्ग हो जानेपर 'स्वधर्म' की परिभाषामें नहीं आते। वे तो निषिद्ध कर्म हैं और त्याज्य हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने तो यह कहा है कि निषिद्ध कर्म ही नहीं, अपितु समस्त काम्यकर्मोंको, जो मन और इन्द्रियोंकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं, त्याग देना चाहिये। करनेके कर्म तो उन्होंने केवल वे बतलाये हैं, जो यज्ञ, दान और तपकी परिभाषामें आ जाते हैं। यज्ञ, दान और तपको उन्होंने **'पावनानि मनीषिणाम्'**—मननशील पुरुषोंको पवित्र कर देनेवाला बतलाया है। परंतु उसके साथ यह भी कहा है कि उनके करनेमें स्वार्थको स्थान नहीं, भोग-विलास अथवा लोकैषणा उनका उद्देश्य नहीं और स्वर्ग-प्राप्तिकी कामनाका भी उनमें प्रवेश नहीं। तीनों निस्स्वार्थभावसे लोक-कल्याणके लिये किये जाते हैं। भेद केवल इतना है कि तप व्यक्तिगत उत्थानके लिये, दान दूसरोंकी उन्नतिके लिये और यज्ञ

विश्वकल्याणकी भावनासे किये जाते हैं। उनमें भी बड़े हितोंके आगे छोटे हितोंको त्याग दिया जाता है और इस प्रकार यज्ञ, दान और तपके रूपमें स्वधर्मका पालन किया जाता है। आसुरी भावनाओंके लिये चाहे वे मनुष्यके स्वभावका अङ्ग बन गयी हों, स्वधर्मके क्षेत्रमें कोई स्थान नहीं।

सदोष होनेपर भी स्वधर्मको न त्यागे, इस आदेशमें दोषका आशय आसुरी प्रकृति नहीं है; किंतु दैवी गुणोंमें ही एक दूसरेके तारतम्यमें कम गुणवाला होना समझना चाहिये। अतः कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।

(गीता ३। ३५; गीता १८। ४७)

दूसरोंके सुचारुरूपसे सम्पादित होनेवाले तथा अधिक फल देनेवाले गुणोंकी अपेक्षा यदि अपने कर्तव्य धर्म (स्वधर्म) में कम गुण भी हों, तो भी अपना स्वधर्म ही श्रेयस्कर है। इस भावको अधिक दृढ़ताके साथ चित्तमें धारण करनेके लिये गीताका यह ऊपर उद्धृत श्लोकार्द्ध तीसरे तथा अठारहवें अध्यायमें दो बार आया है। अतः सदोषका भाव विगुण है, जो सापेक्ष गुणरहित होनेके अर्थमें है।

स्वधर्मके स्वरूपकी जिज्ञासाके प्रस्तुत विषयपर पुनः आते हुए गीताने स्वधर्मको नियत कर्म भी कहा है और आदेश दिया है—

नियतं कुरु कर्म त्वम्। (गीता ३। ८)

अर्थात् 'तू अपने नियत कर्मका पालन कर' और यह भी कहा है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात् तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

(गीता १८। ७)

'नियत कर्मका त्याग नहीं होना चाहिये। यदि मोह अथवा अज्ञानवश उसका त्याग किया जाता है तो ऐसा त्याग तमोगुणी त्याग माना जायगा।'

ये नियत कर्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) प्राकृतिक, (२) सांसिद्धिक और (३) नैमित्तिक।

(१) **प्राकृतिक**—जो प्रकृति अर्थात् ईश्वरकी रची हुई सृष्टिके नियमानुकूल नियत हैं और जिनको सृष्टिकी रचनाके साथ ही रचा गया है। सोना, जागना, खाना, पीना, शौच, लघुशङ्का इत्यादि प्राकृतिक कर्म नियत कर्मोंके उदाहरण हैं। यदि इनको न किया जाय अथवा अनियमित रूपसे किया जाय तो ये हानिकारक सिद्ध होंगे।

(२) **सांसिद्धिक**—जो पूर्वजन्मके संस्कारोंद्वारा, माता-पिताके गुणोंसे उनके रजोवीर्यद्वारा अथवा समाजके संसर्गद्वारा प्राप्त तथा उपार्जित हैं अथवा कर्तव्यकर्म समझकर अभ्यासद्वारा स्वभावके अङ्ग बन गये हों।

(३) **नैमित्तिक**—जो मनुष्यकी किसी विशेष परिस्थितिवश किसी विशेष निमित्तसे नियत किये गये हों—जैसे गृहस्थपालनके निमित्त व्यापारादि करनेके लिये नियत कर्म।

उपर्युक्त तीनों प्रकारके नियत कर्म शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक समस्त क्षेत्रोंमें समानरूपसे आचरणीय हैं। जिस प्रकार दैनिक कार्यक्रम और दिनभरके परिश्रमके कारण शारीरिक थकानको तथा पसीने और रेत-मिट्टी आदिसे मैले हो जानेवाले देहके अङ्गोंके मैलको विश्राम, स्नान, हाथ मुँहके प्रक्षालन आदिद्वारा प्रतिदिन दूर किया जाता है और जिस प्रकार रात्रिके शयनके पश्चात् प्रातःकाल शौचादि तथा दन्तधावन आदिद्वारा शारीरिक क्षेत्रमें शरीरकी स्वच्छता एवं स्वस्थता स्थिर रखी जाती है, उसी प्रकार संसारमें रहते हुए अनेक अवसरोंपर काम, क्रोध, लोभ, मोहादिके वातावरणमें आनेसे मानसिक क्षेत्रमें भी राग-द्वेषादिका अज्ञात प्रभाव मन और बुद्धिपर पड़ता है, जिससे काम क्रोधादिके संस्कार चित्तपर जमने लगते हैं। यदि इन संस्कारोंका शोधन दिन-प्रति-दिन न कर दिया जाय तो वे भी संचित और परिवर्धित होकर एक दिन मनुष्यके स्वभावमें भीषण विकार उत्पन्न कर देते हैं। अतः उनको भी दूर करनेके लिये शारीरिक शौच-स्नानादिकी भाँति प्रतिदिन संध्या, जप, तप, ध्यान, सत्सङ्ग, स्वाध्याय आदि मानसिक साधनोंका प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रकार मायाके वशीभूत होकर दिन-रात अपना-विराना करते हुए स्वार्थ और भेदभावके वातावरणमें मनुष्यके आध्यात्मिक विचार भी मलिन हो जाते हैं। अतः उनके लिये भी नित्य नियमसे श्रवण, मनन, निदिध्यासन अथवा ईश्वरचिन्तन आदि आवश्यक हैं। इन नियत कर्मोंको 'नित्यकर्म' कहते हैं और नियमितरूपसे करनेके लिये शास्त्रोंमें नित्यकर्मपद्धतिका विधान है। अवस्था और परिस्थितिके अनुसार इन नित्य कर्मोंमें परिवर्तन हो सकता है, परंतु उनकी अवहेलना नहीं हो सकती। अवहेलना करनेसे हानि होती है।

प्रकृतिद्वारा नियत कर्मोंके सम्बन्धमें गीतामें श्रीकृष्णने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
(४ । १३)

'मैंने (ईश्वरने) चारों वर्णोंके आधाररूप धर्मोंको गुण और कर्मोंके सिद्धान्तपर, 'सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा' सृष्टिमें प्रजाके साथ-साथ रचकर—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥
(१८ । ४१)

—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चारों वर्णोंके कर्म स्वाभाविक गुणोंके आधारपर विभाजित कर दिये हैं ।'

इसमें संदेह नहीं कि सृष्टिको चलानेके लिये जीवोंकी उत्पत्तिके साथ उनके कर्मोंके रचनेकी भी आवश्यकता थी; परंतु सृष्टिकी रचनाके पश्चात् समाजको सुचारुरूपसे चलानेके लिये चारों वर्णोंके अनुरूप कार्यविभाग करना भी अनिवार्य था । अतः स्मृतियोंद्वारा उसके नियम बनाकर चारों वर्णोंके सामाजिक कर्म नियत किये गये । इन स्मृतियोंमें मनुस्मृति प्रधान स्मृति समझी जाती है । अतः गीता और मनुस्मृतिमें वर्णित चारों वर्णोंके कर्मोंका परस्पर मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीतोक्त वर्णधर्म प्रकृतिनियत हैं और मनुस्मृतिमें वर्णित प्रत्येक वर्णके धर्म समाजसंगठनके विचारसे निर्धारित किये गये हैं ।

गीतोक्त ब्राह्मणधर्म

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥
(१८ । ४२)

'शम (मनकी शान्ति), दम (इन्द्रियोंकी शान्ति), तप, पवित्रता, क्षमा, सरलता, ज्ञान, विज्ञान—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक लक्षण हैं ।'

मनुस्मृतिमें वर्णित ब्राह्मणधर्म

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥
(१ । ८८)

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना, लेना—ये कर्म ब्राह्मणोंके लिये नियत किये गये ।

गीतोक्त क्षत्रियधर्म

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥
(१८ । ४३)

'शूरवीरता, तेज (प्रताप), धैर्य, कार्यकौशल, युद्धमें पीठ न दिखाना, दानशीलता और शासन करनेकी क्षमता—ये क्षत्रियके स्वाभाविक धर्म हैं ।

मनुस्मृतिमें वर्णित क्षत्रिय-धर्म

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः ॥
(१ । ८९)

'प्रजाकी रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, पढ़ना और सांसारिक भोगविलासमें अधिक प्रीति न होना संक्षेपतः ये क्षत्रियके लिये निर्धारित किये हुए कर्म हैं ।

इसी प्रकार वैश्य और शूद्रोंके जो कर्म गीता और मनुस्मृतिमें वर्णन किये गये हैं, उनके मिलानेसे प्रकट होता है कि गीतोक्त वर्णधर्म सैद्धान्तिक हैं, शाश्वत हैं, और गुण तथा स्वभावके आधारपर सृष्टिके साथ रचे गये हैं; मनुस्मृतिमें निर्धारित वर्णधर्म समाजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये नियत किये गये हैं । चारों वर्णोंके सम्बन्धमें मनुस्मृति तो कहती है कि अमुक-अमुक वर्ण अमुक-अमुक धर्मोंका पालन करे और गीता कहती है कि जो अमुक-अमुक धर्मोंका स्वभाव रखते हैं, वे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हैं । दोनों प्रकारके धर्मोंके शील और स्वरूपमें श्रुति और स्मृतिके समान सिद्धान्तोंका भेद है । गीतोक्त वर्णधर्म श्रौत धर्मोंके समान हैं, जो परिस्थितिके अनुकूल नहीं बताये गये, अपितु परिस्थिति उनके अनुकूल बना करती हैं । मनुस्मृतिमें वर्णित धर्म स्मार्त हैं, जो समाजको ठीक प्रकारसे चलानेके लिये परिस्थितिके अनुकूल बनाये गये हैं और परिस्थितिके अनुकूल समय-समयपर बदलते भी रहते हैं । सम्भवतः जन्मसे जातिका नियम भी समाज-संगठनके सिद्धान्तपर ही अवलम्बित है । परंतु जन्मसे जाति होती है अथवा गुण, कर्म और स्वभावसे—यह प्रश्न यहाँपर नहीं है । जन्मसे हो अथवा गुण, कर्म, स्वभावसे—यदि वर्णधर्मकी प्रवृत्तियाँ मनुष्यका स्वभाव बन जाती हैं और उसके कर्म परिस्थितिजन्य अथवा प्रकृतिजन्य नियत कर्मोंकी कोटिमें आ

जाते हैं तो उन प्रवृत्तियोंको भी मनुष्यका स्वधर्म ही माना जायगा और स्वधर्म पालन करनेके सिद्धान्त दोनों अवस्थाओंमें लागू होंगे। वस्तुतः आवश्यकता दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंकी है। गीतामें वर्णित वर्णधर्म, जो स्वभाव और गुणोंके आधारपर हैं, यदि पारमार्थिक क्षेत्रके लिये आवश्यक हैं, तो मनुस्मृतिद्वारा निर्धारित धर्म भी समाजसंगठनके लिये उपादेय हैं। धर्मका लक्षण भी **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** के अनुसार संसारमें अभ्युदय और मरणानन्तर मुक्तिलाभ दोनोंको आवश्यकीय बतलाता है। अतः दोनों स्वधर्म हैं। भेद केवल इतना है कि स्वभावनियत धर्ममें प्रकृति स्वयं स्वधर्मानुकूल आचरण करनेके लिये मनुष्यको बाध्य करती है और समाज-क्षेत्रमें कर्तव्यपरायणताकी तीव्र भावना एवं परिस्थिति नियत कर्मोंको करनेके लिये प्रेरित किया करती हैं।

स्वधर्म-पालनके नियम

स्वधर्मका स्वरूप जाननेके साथ ही स्वधर्मके पालनकी विधिका भी जानना आवश्यक है। प्रत्येक कार्यके करनेकी सफलता उसके सम्पादनकी विधिपर निर्भर रहती है। अतः स्वधर्म-पालन करनेमें निम्नोक्त नियमोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) स्वधर्ममें गुण और दोष देखनेकी आवश्यकता नहीं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि निषिद्ध और काम्यकर्म तो स्वधर्मकी परिभाषामें आते नहीं; जो आते हैं उनमें यह नहीं देखना चाहिये कि मेरे कर्मसे दूसरेका कर्म ऊँची कोटिका है, अथवा मेरा कम लाभदायक है और दूसरोंका अधिक लाभदायक है। कर्मयोगका मौलिक सिद्धान्त **'कर्मण्येवाधिकारस्ते'** है, जिसके अनुसार कर्तव्यपालनमें सुख-दुःख, अच्छा-बुरा, अनुकूल-प्रतिकूल, अथवा सरल और कठिन नहीं देखा जाता। केवल कर्म करनेकी धारणा स्थिर रखी जाती है। कार्यके गुण-दोषका विचार उसके फलमें आसक्तिकी ओर संकेत करता है, अतः स्वधर्ममें गुणदोष देखना फलासक्तिपूर्वक स्वधर्मका सम्पादन करना है, जो वर्जित है। गीतामें कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
(१८।४८)

'स्वाभाविक कर्म (स्वधर्म) चाहे दोषयुक्त हो—त्यागना नहीं चाहिये। क्योंकि कर्म कोई भी ऐसा नहीं है, जिसमें अग्निमें धूँएकी भाँति किसी-न-किसी प्रकारका दोष न हो।'

इस विषयमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सब कर्म ईश्वरके हैं। उसने जिस-जिसको जो-जो कर्म करनेका विधान किया है, उस-उस कर्मको करके ईश्वरकी आज्ञाका पालन करना चाहिये।

(२) स्वधर्मके पालन करनेमें आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये।

जब कि **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'** के अनुसार मृत्युका भी भय न करके स्वधर्म-पालन करनेका विधान है, तब फिर उसमें आलस्य और प्रमादको स्थान कहाँ है।

(३) स्वधर्म-पालनमें नियमबद्ध रहना चाहिये। गीता कहती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६।१७)

'आहार, विहार, रहना-सहना तथा अन्य चेष्टाओं-को एवं सोने, जागने आदिको विधिवत् और नियमपूर्वक करना चाहिये। ऐसा करना एक महायोग है, जो बड़े-बड़े कष्टों और दुःखोंका नाश करनेमें समर्थ है।'

(४) स्वधर्म-पालनमें कर्म-त्याग नहीं, फल-त्याग होना चाहिये। गीता कहती है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
(१८।७)

स्वधर्मका त्याग वर्जित है। पुनः—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

नियतकर्मको कर्तव्यधर्म समझकर आसक्ति और फलेच्छाके त्यागपूर्वक करना चाहिये। ऐसा त्याग सात्त्विक त्याग कहलाता है। पुनश्च—

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत् तत् सात्त्विकमुच्यते॥
(१८।२३)

'नियत कर्मको कर्तृत्वाभिमान त्यागकर रागद्वेषकी भावना तथा फलकी कामनासे रहित होकर करना सात्त्विक कर्म कहलाता है।'

सात्त्विक कर्मसे चित्तकी शुद्धि और चित्तकी शुद्धिद्वारा परमपदकी प्राप्ति होती है।

स्वधर्मके पालन करनेके सम्बन्धमें उपर्युक्त नियमोंपर विचार करनेसे यह स्पष्टतया समझमें आ जाता है कि स्वधर्मके आचरणमें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग—तीनोंका पर्याप्त समावेश है। ऊपर—उद्धृत श्लोकोंसे कर्मयोगका साधन प्रयुक्त होना तो स्पष्ट है। परंतु इसीके साथ जो अपने प्रत्येक कर्मको भगवान्‌का कर्म समझकर उसे करते हैं, वे भक्तियोगके मार्गका भी अवलम्बन लेते हैं। इस सम्बन्धमें नीचेका उद्धृत एक प्रमाण ही पर्याप्त होगा। गीता कहती है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२। ६-७)

'जो अपने कर्मको मेरे (ईश्वरके) ऊपर छोड़ देते हैं और मुझ भगवान्‌में ही अनन्यभक्ति रखते हैं, उनको मैं (ईश्वर) मृत्युरूपी संसार-सागरसे शीघ्र ही पार कर देता हूँ।'

इसी प्रकार स्वधर्म-पालनमें ज्ञानयोगका साधन भी काममें आता है। प्रमाणके लिये देखिये नीचेके उदाहरण—

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।

(गी० ३। २८)

सत्त्व, रज, तम—तीनों गुण ही कारणरूपसे अपने-अपने कार्यमें विद्यमान रहते हैं। पुरुष कुछ नहीं करता—यह भावना स्वधर्म-पालनमें कर्तृत्वाभिमानके त्यागमें रहती है। अतः सांख्यसिद्धान्तके अनुसार यह ज्ञानयोग है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गी० ४। २४)

सब कर्म ब्रह्मरूप हैं, सब साधन भी ब्रह्मरूप हैं, करनेकी समस्त शक्तियाँ भी ब्रह्मरूप हैं और सब कर्मोंका फल भी ब्रह्मको ही प्राप्त होता है। फलासक्ति त्यागकर स्वधर्म-पालन करनेवालेकी यही भावना रहती है, अतः वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार यह ज्ञानयोग है।

स्वधर्मका माहात्म्य

इसके पश्चात् स्वधर्म-पालन करनेके माहात्म्यको विचारिये तो वह मुक्तिका द्वार है और श्रेयःसिद्धिका साधन है। स्वधर्म-पालनके माहात्म्यके सम्बन्धमें गीता कहती है—

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।

(१८। ४७)

स्वभावद्वारा नियत कर्म अर्थात् स्वधर्मके पालन करनेसे मनुष्य समस्त प्रकारके पापोंसे बचा रहता है।

पुनः—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।

(१८। ४५)

अपने-अपने कर्तव्य कर्म (स्वधर्म) को पूर्णयोगसे पालन करता हुआ पुरुष मुक्तिपदका लाभ करता है। और यह लाभ किस प्रकार होता है, इस सम्बन्धमें स्वयं प्रश्न उठाकर गीता कहती है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

जिस ईश्वरने सृष्टिको रचकर जीवों और जीवोंके कर्मोंको बनाया है, उन कर्मोंको करते हुए मनुष्य ईश्वरकी आज्ञाओंका पालन करता है और यह उसकी सर्वोच्च पूजा और आराधना है, जिससे वह मोक्षका अधिकारी बनता है।

उपसंहार

स्वधर्मके स्वरूप और माहात्म्यका उपर्युक्त उपदेश गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको एक निमित्त बनाकर मनुष्यमात्रके हितार्थ दिया है। प्राणिमात्रका कर्तव्य है कि वह उसपर चलकर कल्याणपदकी प्राप्तिका अधिकारी बने।

रोष न रसना खोलिऐ बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि॥

(दोहावली)

मानसमें श्रीहनुमच्चरित्र

(लेखक—श्रीकुन्दनलालजी नन्हौरया)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

अब हनुमान्‌जी सोचते हैं कि माता सीताजीने कह तो दिया परंतु तीन बारके कहनेपर ही सुत-स्वीकारोक्तिकी प्रामाणिकता ठहरायी जाती है, जैसा कि दानिशिरोमणि सर्वज्ञ परम प्रभुने स्वायम्भुव मनु और शतरूपाजीको वर देनेके समय कहा था—

पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥

अतएव हनुमान्‌जी कहते हैं—

सुनु माता साखामृग नहिं बल बुद्धि बिसाल।
प्रभु प्रताप तें गरुड़हि खाइ परम लघु ब्याल॥

महावीरकी ऐसी निरभिमान वाणीको सुनकर माताने—

आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥

हनुमान्‌जी अपने लिये दूसरी बार सुतका सम्बोधन तथा 'करहुँ कृपा' ऐसा सुनकर पूर्ण प्रेममें मग्न हो जाते हैं और ऐसी प्रेममयी अवस्थामें बारंबार माता सीताजीके चरणोंमें सिर नवाकर कहते हैं—

अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता। आसिष तव अमोघ बिख्याता॥
सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥

अब माताजी तीसरी बार सुतका सम्बोधन इस प्रकार करती हैं—

सुनु सुत करहिं बिपिन रखवारी। परम सुभट रजनीचर भारी॥

अरे! अभी कुछ क्षणोंके पूर्व ही तो उन्होंने अपने सुतको—

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अतिबल बीरा॥

—देखा है; परंतु इसे वे भूल जाती हैं और अपने नन्हे सुतके लिये उनके हृदयमें वात्सल्य छलकने लगता है। वास्तवमें माताके इस वात्सल्यमय स्नेहका पान करनेके लिये ही तो हनुमान्‌जीको एकाएक अतिशय भूख लगती है। इस प्रकार पतिपरायणा, सती-साध्वी सीता-ऐसी माताके अब वे एक विश्वासी, आशिषयुक्त एवं वात्सल्य-स्नेहसिक्त सुत बन जाते हैं। ऐसे शक्तिशाली साधनोंसे सुसज्जित हो जानेपर वे कहते हैं—

तिन्ह कर भय माता मोहि नाहीं। जौं तुम्ह सुख मानहु मन माहीं॥

माता अपने बच्चेको भूखा कैसे देख सकती है! अतएव—

देखि बुद्धि बल निपुन कपि कहेउ जानकीं जाहु।
रघुपति चरन हृदयँ धरि तात मधुर फल खाहु॥

इसी बहाने लङ्काको जलाकर और चिह्नस्वरूप चूड़ामणि लेकर तथा—

जनकसुतहि समुझाइ करि बहु बिधि धीरजु दीन्ह।
चरन कमल सिरु नाइ कपि गवनु राम पहिं कीन्ह॥

लौटनेपर यह टोली देखती है—

फटिक सिला बैठे द्वौ भाई। परे सकल कपि चरनन्हि जाई॥

इतना महान् गौरवशाली कार्य कर आनेपर भी हनुमान्‌जी अपने शीलके कारण, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सबके पीछे चुपचाप खड़े रहते हैं। वे तो इतना भी कहना नहीं चाहते कि माता सीताजीने उन्हें सुत स्वीकार कर लिया है; क्योंकि ऐसे कथनमात्रतकमें उन्हें गर्वकी गन्ध मालूम पड़ती है। अतएव उनकी ओर इङ्गित करते हुए—

जामवंत कह सुनु रघुराया। जा पर नाथ करहु तुम्ह दाया।
ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर। सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर।
सोइ बिजई बिनई गुन सागर। तासु सुजसु त्रैलोक उजागर।

सीताजीके सुत बनकर आनेका पहला संकेत श्रीरामजीको यहीं मिल जाता है; क्योंकि उनके पुत्रोंके लिये भी ये ही विशेषण प्रयोगमें आये हैं।

यथा—

दुइ सुत सुंदर सीताँ जाए। लव कुस बेद पुरानन्ह गाए।
दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर। हरि प्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर।

तत्पश्चात् उनके नामका उल्लेख करते हुए जाम्बवंतजी कहते हैं—

नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी।
पवन तनय के चरित सुहाए। जामवंत रघुपतिहि सुनाए।

अब हनुमान्‌जीसे पहला प्रश्न श्रीरामजी ऐसा कर देते हैं, जिससे जानकीजीकी दशाकी जानकारी प्राप्त हो जाय और

साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाय कि हनुमान्‌जी सच्चे अर्थमें सीताजीके सुत बनकर आये हैं। प्रश्न है—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥

श्रीरामजी 'आपन चरित कहा हम गाई' के अनुसार हनुमान्‌जीको सुना चुके हैं कि साथमें ले चलनेके लिये जानकीजीने कहा था—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

× × × ×

बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहिं न कृपानिधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ संग मोहि छाड़िअ जनि॥

× × × ×

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी॥

और फिर शृङ्गवेरपुरमें सुमन्त्रजीको विदा करते समय भी कहा है—

प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥

आदि-आदि

तो अब किस प्रकार प्राणोंकी रक्षा करते हुए रहती हैं?

—इस प्रश्नमें हनुमान्‌जीको माताजीके प्रति व्यङ्ग्यात्मक पुट मालूम पड़ती है, अतएव—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनुस्मृति २। १४५)

अर्थात् उपाध्यायसे दसगुना आचार्यका, आचार्यसे सौगुना पिताका और पितासे हजारगुना बड़प्पन माताका है।'

—इस शास्त्रोक्तिके अनुसार श्रीरामजीके—'रहति करति रच्छा स्वप्रानकी'—इस गूढ़ प्रश्नका उत्तर देते हुए हनुमान्‌जी स्वयं प्रश्न कर बैठते हैं, यथा—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥

ऐसा खरा उत्तर पाकर श्रीरामजी दंग रह जाते हैं और उन्हें निश्चय हो जाता है कि सीताजीने हनुमान्‌जीको सुतके रूपमें स्वीकार कर लिया है। इसी कारण हनुमान्‌जी अपनी माताका पक्ष लेकर अपने शीलके विपरीत उत्तर माँगनेका साहस कर रहे हैं, इस प्रकार श्रीरामजीको निरुत्तर देखकर हनुमान्‌जी चूड़ामणि देते हैं, फिर जनककुमारीका दुःखपूर्ण संदेश सुनाते हैं। अन्तमें अपनी असहाय एवं दीन माताकी दयनीय दशाके स्मरणमात्रसे द्रवित होकर जब उनका गला रुँधने लगता है, तब कातर होकर वे कहते हैं—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहें भलि दीनदयाला॥

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥

प्रभु यह जानते हैं कि अशोकवाटिकामें सीताजीका प्रतिबिम्बमात्र है; फिर भी—

सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥

इस प्रकार प्रभुको खेद-खिन्न देखकर उन्हें ढाढ़स बँधानेके लिये हनुमान्‌जी कहते हैं—

केतिक बात प्रभु जातुधान की। रिपुहि जीति आनिबी जानकी॥

इतना सुनते ही श्रीरामजीका ध्यान हनुमान्‌जीकी केवल भगवत्प्रीत्यर्थ सेवाकी ओर आकृष्ट हो जाता है और वे अपनी अनुपम, अद्वितीय, अगाध एवं असीम कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इसे हनुमान्‌जी अपना मुख नीचा किये हुए सुन रहे हैं। इसी समय प्रभुको कृतज्ञतासूचक अपने उपर्युक्त शब्दोंमें कुछ कमीका भान होता है, अतः वे अन्तमें कह देते हैं—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

यह सब कहते जा रहे हैं और—

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

हे प्रभु! आपकी यह झाँकी वाणीसे परे है। धन्य हैं प्रभु! धन्य हैं आप और धन्य है आपका मानव-चरित्र। संसारमें पितासे पुत्र उऋण नहीं होता, ऐसा देखने-सुननेको मिलता है; परंतु आप तो हनुमान्‌जीको सुत भी स्वीकार कर रहे हैं और साथ ही ऐसे सुतसे उऋण न होनेकी विलक्षण कृतज्ञता भी बता रहे हैं, जो कदाचित् ही कहीं सुनने-

देखनेको मिले । इसीलिये तो काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ । केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ ॥

हनुमान्‌जीको अपने लिये केवल 'सुत'के सम्बोधनकी लालसा रही है, परंतु प्रभु सदैवके लिये ऋणी भी बन जाते हैं । ऐसे अद्भुत और महान् आभारके नीचे महाबली पवनकुमार इतने दबे जा रहे हैं—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥

हनुमान्‌जी प्रेमसे व्याकुल होकर और प्रभुके चरणोंका सहारा लेकर पुकारने लग जाते हैं कि (मैं दबा जा रहा हूँ) प्रभु ! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो । ऐसे सेवक-सुतका अपने चरणोंमें अधिक समयतक पड़े रहना शरणागत-भक्त-वत्सल भगवान्‌से भला कैसे देखा जा सकता है । अतः

बार बार प्रभु चहइ उठावा । प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥

बार-बार अर्थात् एक बार उठाना चाहा तो नहीं उठा सके; दूसरी बार उठाना चाहा, तो भी नहीं उठा सके । इस प्रकार प्रभुके कई बार उठाना चाहनेपर भी हनुमान्‌जी प्रेममें मग्न होकर उठना नहीं चाहते । अखिलब्रह्माण्डनायक प्रभु यदि हार मानते हैं तो ऐसे ही भक्तोंसे । इसी प्रेमके वशीभूत होकर—

प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा ।

प्रभु अपना कमलस्वरूपी हाथ हनुमान्‌जीके सिरपर रख देते हैं, और तब—

सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥

इस दशाका स्मरण करके शंकरजी मग्न हो जाते हैं—अपना आपा खो बैठते हैं, और वह इसलिये कि—

जानि राम सेवा सरस समुझि करब अनुमान ।
पुरुषा ते सेवक भए हर ते भे हनुमान ॥
(दोहावली १४३)

श्रीशंकरजी स्वयं हनुमान्‌जीके रूपमें अपने सिरपर प्रभुके कर-कमलके स्पर्शके आनन्दमें डूब रहे हैं । अयोध्यापुरीमें श्रीशंकरजीको अपना हाथ बालक रामके सिरपर रखना पड़ा था—यथा—

अवध आजु आगमी एकु आयो ।
करतल निरखि कहत सब गुनगन, बहुतन्ह परिचौ पायो ॥
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो ।
सँग सिसुसिष्य, सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥
पाय पखारि, पूजि दियो आसन, असन बसन पहिरायो ।
मेले चरन चारु चार्‌यो सुत माथे हाथ दिवायो ॥
—आदि, आदि (गीतावली १७)

आये थे करतल निरखने और रेखाएँ देखनेके बहाने चरण-स्पर्श करने, परंतु माता कौसल्या प्रभुको श्रीशङ्करजीके चरणोंपर डाल देती हैं और 'माथे हाथ दिवायो' उनके माथेपर शंकरजीसे हाथ भी रखवाती हैं । इन त्रिभुवनपति श्रीरामजीके मस्तकपर हाथ रखनेके विशाल बड़प्पनको आज स्वयं सेवक-सुत बनकर एवं प्रभुके चरणोंमें अपना माथा रखकर उन्हें ही अर्पण कर देते हैं और तब उन परब्रह्म परमात्माके कमल-स्वरूपी हाथको अपने सिरपर रखा हुआ पाते हैं । इस प्रकार परम पिता रामाख्य रघुपुंगव अपना भी वात्सल्य प्रदान करते हुए—

कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा । कर गहि परम निकट बैठावा ॥

उपर्युक्त अर्धालीमें (१) 'कर गहि' और (२) 'परम निकट' शब्द विशेष महत्त्वके हैं ।

(१) 'कर गहि'—अर्थात् भगवान् जिसका हाथ पकड़ लेते हैं, उसे फिर कभी नहीं छोड़ते—भगवान् उसे अपना लेते हैं और वह भगवान्‌का ही हो जाता है ।

(२) 'परम निकट'—अर्थात् श्रीरामजी और श्रीहनुमान्‌जीमें अन्तरका कोई व्यवधान नहीं रह जाता और यह ठीक भी है; क्योंकि पुत्र तो पिताका ही अङ्ग हुआ करता है ।

इस प्रकार पहले दिनकी भेंटके समय हनुमान्‌जीकी जो साध थी—

सेवक सुत पति मातु भरोसें । रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें ॥

—वह पूर्णरूपेण सफल हो जाती है और वे निश्चिन्त हो जाते हैं । अतएव प्रभुको उनका पालन-पोषण करते ही बनता है, जैसा कि आगे बताया गया है— .

भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें इसी आशयकी पुष्टि करते हुए कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९ । २२)

जो अनन्य प्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योग-क्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ—उनके कल्याणके लिये मैं जिम्मेदार हूँ।

तदनन्तर वानर-सेनाके साथ समुद्र पारकर श्रीरामजी लङ्कापर विजय प्राप्त करते हैं एवं विभीषणको लङ्केश्वर बनाकर मुख्य-मुख्य सेनापतियोंके साथ अयोध्याको लौटते हैं, जहाँ श्रीरामजीका राज्याभिषेक होता है, और—

नित नव मंगल कौसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥
× × × ×
ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥
बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥

तब श्रीरामजी सबको अपने-अपने घर भेजते हैं, यहाँतक कि अङ्गदके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥

परंतु हनुमान्‌जीको तो सुत बना लिया है और 'कर गहि'—हाथ भी पकड़ा है; सो ऐसे पुत्रका घर ही कहाँ—जहाँ जानेको कहें। अब तो भगवान्‌का घर ही हनुमान्‌जीका घर है।

हाँ, अयोध्यापुरीसे चलते समय सुग्रीवजी कतिपय कारणोंसे हनुमान्‌जीको अपने साथ ले जाना चाहते थे। उनकी यह इच्छा हनुमान्‌जीकी पैनी दृष्टिसे छिपी नहीं रहती।

अतएव—

तब सुग्रीव चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहउँ देवा॥
पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥

एक प्रकारसे हनुमान्‌जीको छुट्टी मिल गयी। परंतु यह दसवाँ दिन उनके लेखेमें कभी आता ही नहीं; क्योंकि नौ दिनके बाद फिर वही एक, दो, तीनके अङ्क शुरू हो जाते हैं। अतएव युगल सरकारकी सेवा ही हनुमान्‌जीका अजर-अमर जीवन बन जाता है। ऐसी परम पुनीत सेवामें ही हनुमान्‌जी नित्य-निरन्तर निमग्न रहते हैं।

पहली भेंटके समय हनुमान्‌जीकी वन्दनाके अन्तिम शब्द हैं—

'बनइ प्रभु पोसें'—अर्थात् प्रभुको पालन-पोषण करना ही पड़ता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। अपने ऐसे सेवक-सुत एवं प्रिय भक्तकी इस याचनाको श्रीरामजी बड़ी सुन्दरतासे निभाते हैं।

राजभोगके लिये रत्नजटित कञ्चन-थालोंमें सुधा-सदृश स्वादिष्ट अनेक प्रकारके व्यञ्जनोंको सीता माता सजा-सजाकर स्वयं लाती हैं, यथा—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥

और जब प्रभु—

अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननीं सुख भरहीं॥

तब जैसे स्वभावतः हास-परिहास होते रहनेसे भोजनमें विशेष रस आता है और फिर प्रभु तो लङ्का-विजयके पश्चात्‌से ही—

मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥

कपियोंसे अनेक प्रकारके विनोद करते रहे हैं; सो यहाँ भी भोजन करते जाते हैं और बीच-बीचमें अपने थालोंमेंसे कभी पूड़ी, कचौड़ी और कभी लड्डू आदि भोज्य एवं चर्व्य व्यञ्जनोंको उठा-उठाकर एक ओर बैठे हुए हनुमान्‌जीकी तरफ फेंकते जाते हैं। हनुमान्‌जी इन्हें ऊपर-के-ऊपर ही पकड़ लेते हैं और उदरस्थ करते जाते हैं एवं राजमहलके आँगनमें विचरनेवाले खग, मृगादिको भी कुछ खिलाते जाते हैं। इतनेपर भी प्रभुको आशङ्का रहती है कि उनका लाड़ला हनुमान् कहीं भूखा न रह जायँ।

अतएव वे अपने थालोंमें कुछ अधिक सामग्री छोड़ देते हैं। प्रभुकी इस जूँठन प्रसादीको हनुमान्‌जी बड़े चावसे खाते हैं; परंतु वानरी चञ्चलताके कारण उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें लेह्य एवं चोष्य व्यञ्जनादि जैसे खीर, रबड़ी, कढ़ी, श्रीखण्ड, चटनी आदिके लग जानेसे उनका चित्र-विचित्र वेष बन जाता है और तब उनको देख-देखकर चारों भाई, माता सीता एवं अन्य बहुएँ तथा बूढ़ी माताएँतक हँसते-हँसते लोट-पोट होने लगती हैं। 'भूमि सप्त सागर मेखला' के एकमात्र सरकार इस प्रकारके अनेक विनोद करते हुए हनुमान्‌जीका

तृप्तियुक्त पालन-पोषण करते हैं और तब हनुमान्‌जी भी फुदक-फुदककर अपने सरकारकी आज्ञाओंका पालन बड़ी लगनसे करते रहते हैं।

ऐसा है पवनकुमार श्रीहनुमन्तलालजीका परम उज्ज्वल चरित्र।

उपसंहार

इस चरित्रसे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यका कल्याण इसीमें है कि अपने-आपको इन युगल सरकार—श्रीसीतारामजीका सेवक और सुत मान ले और उनपर दृढ़ भरोसा रखकर अपने कर्तव्य-कर्मों—स्वधर्मका, जितनी उत्तमतासे हो सके, पालन करते हुए निश्चिन्त हो जाय। तब फिर प्रभु-कृपासे यथाविधि उसका पालन-पोषण होता ही रहेगा—इसमें तिलमात्रका संदेह नहीं है और इसके लिये अपनेसे बाहर कहीं अन्यत्र प्रमाण ढूँढ़नेकी भी आवश्यकता नहीं है।

ऋग्वेदीय मन्त्रद्रष्टा

(लेखक—ऋग्वेद-भाष्यकर्ता पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

[गताङ्क पृष्ठ ८०० से आगे]

मनु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। इनकी संख्या १४ है—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, दक्षसावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, धर्म-सावर्णि, देवसावर्णि और इन्द्रसावर्णि। प्रति कल्पमें ये १४ मनु होते हैं। इस समय वैवस्वत मनुका अधिकार है। परंतु ऋग्वेदमें ये बातें नहीं हैं। मनुके सम्बन्धमें ऋग्वेदमें जो कुछ लिखा है, वह आगेकी पङ्क्तियोंमें द्रष्टव्य है—

मानवोंके पिता मनु थे (१।६०।३)। ये कहीं राजा, कहीं राजर्षि और कहीं प्रजापति कहे गये हैं। वैवस्वत मनु और सावर्णि मनुका भी उल्लेख है। मनुने अग्निदेवसे स्वर्गकी कथा सुनी थी (१।३१।४)। इसी ३१ सूक्तके ४ में पुरूरवा राजा और ११ में पुरूरवाके पौत्र नहुषका उल्लेख है। १७ वेंमें मनुके साथ ही ययातिका भी नाम आया है। १।४५।१ में तो देवोंको भी मनु-पुत्र बताया गया है। १।४६।१३ में मनु 'सेवक यजमान' कहे गये हैं। १।८०।१६ में मनु 'समस्त प्रजाके पितृ-भूत' बताये गये हैं। १।९६।२ का कथन है—'मनुके प्राचीन और स्तुति-गर्भ मन्त्रसे संतुष्ट होकर अग्निदेवने मानवीय सृष्टि की थी।' अश्विद्वयने मनुको प्रथम गमनमार्ग दिखाया था और अन्न देकर उनकी रक्षा की थी (१।११२।१६ और १८)। मनुके लिये गायें 'सर्वार्थ-माता' थीं (१।१३०।५)। मनु प्रख्यात याज्ञिक थे (३।३२।५)। मनु 'स्वर्ग-प्रदर्शक' थे (६।१५।४)। ७।३५।१५ में मनु 'यजनीय प्रजापति' कहे गये हैं। ८।१९।२४ में मनु 'अग्नि-स्थापक' बताये गये हैं। ८।२७।७ में 'मनु-वंशधरों की यज्ञ-परायणता' का कथन है। वहीं २१ वें मन्त्रमें मनु-ऋषि 'हव्यदाता' और 'प्रकृष्टज्ञानी' कहे गये हैं। वालखिल्य सूक्त ४।१ में विवस्वान् मनुका उल्लेख है। ९।९२।५ में मनु 'राजर्षि' बताये गये हैं। मनु 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्ता' थे (१०।६१।२१)। १०।६२।८-९ में सौ अश्वों और हजार गायोंके दाता सावर्णि मनु कहे गये हैं। इसी ९ वें मन्त्रमें लिखा है—'मनुके समान कोई भी दान देनेमें समर्थ नहीं है। सावर्णि मनुका दान नदीके समान सर्वत्र विस्तृत है।' १०।६३।१ में विवस्वान्‌के पुत्र मनुका उल्लेख है। मनुके यज्ञमें इला, भारती और सरस्वती उपस्थित थीं (१०।७०।८)। ८।२७-२८ और ३०-३१ सूक्तोंके द्रष्टा वैवस्वत मनु हैं। ९।१०६ (७–९ मन्त्रों) के अप्सु-पुत्र मनु ऋषि हैं और १०।१३ के विवस्वान् मनु हैं।

मनुके पुत्र नाभा नेदिष्ठ थे। ये १०।६१-६२ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। इन्होंने १०।६१।१८ में अपनेको सूर्यका बन्धु बताया है। इन्होंने अपनेको 'अश्वमेध-यज्ञ-कर्त्ता मनुका पुत्र' और 'सर्वज्ञ' कहा है।

अगस्त्य महातेजा और महातपा ऋषि थे। समुद्रस्थ राक्षसोंके अत्याचारसे घबराकर देवतालोग इनकी सेवामें गये और अपना दुःख कह सुनाया। फल यह हुआ कि ये सारा समुद्र पी गये और राक्षसोंका समूल विनाश हो गया। इनकी स्त्री लोपामुद्रा ब्रह्मवादिनी थी। अगस्त्य द्रविड़ सभ्यताके प्रवर्तक माने जाते हैं। तमिळ भाषाका आदि

व्याकरण इन्हींका माना जाता है। इनके नामपर संस्कृतके अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। अगस्त्य नक्षत्र भी प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ७। ३३। १३ से विदित होता है कि मित्र और वरुणके द्वारा कुम्भ वा वसतीवर कलशसे अगस्त्यका जन्म हुआ था। यही बात १। ११७। ११ में भी है। १। १७९ सूक्तमें अगस्त्य और लोपामुद्राका कथोपकथन है। अगस्त्य हजार स्तुतिवाले कहे गये हैं (१। १८०। ८)। अगस्त्यके दौहित्र बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु आदि कहे गये हैं (१०। ६०। ६)। १। १६५ से १९१ सूक्तोंके ऋषि ये ही माने जाते हैं।

अगस्त्यके पुत्र दृढच्युत ९। २५के और दृढच्युतके पुत्र इध्मवाह ९। २६के मन्त्र-द्रष्टा हैं।

भृगु ब्रह्माके मानस पुत्र थे। ये अन्यतम प्रजापति भी माने जाते हैं। दक्ष-पुत्री ख्यातिसे इनका विवाह हुआ था। इनकी कन्या लक्ष्मी हैं और धाता, विधाता नामके दो पुत्र हैं। ये भृगु भृगु-वंशके प्रवर्तक और धनुर्विद्याके कर्ता माने गये हैं। एक बार मुनियोंकी इच्छा यह जाननेकी हुई कि ब्रह्मा, विष्णु और शिवमें कौन श्रेष्ठ है। परीक्षक बनकर भृगु ब्रह्मा और शिवके पास गये तो; परंतु मर्यादानुकूल प्रणाम नहीं किया, जिससे ये दोनों रुष्ट हो गये। बहुत अनुनय-विनयके पश्चात् इन्हें सतुष्टकर अन्तको भृगु विष्णुके पास गये। विष्णु सो रहे थे। भृगुने उनके वक्षःस्थलपर लात मारकर जगाया। परंतु विष्णु रुष्ट होनेके स्थानपर संकोच और शालीनताके साथ मुनिवरसे यह चिन्ता प्रकट करने लगे कि 'मेरे कठोर वक्षःस्थलपर लगनेसे कहीं पैरमें व्यथा तो नहीं हो गयी!' साथ ही भृगुकी चरण-सेवा भी करने लगे विष्णुकी ऐसी विशालहृदयता और उच्चातिशयता देखकर भृगुने निश्चय किया कि देव-श्रेष्ठ और ब्राह्मणोंके पूज्य विष्णु ही हैं। विष्णुके हृदय-देशपर आजतक भृगु-पद-चिह्न विद्यमान है।

ऐसी पौराणिक कथा ऋग्वेदमें तो नहीं है; किंतु भृगु और भार्गवोंके सम्बन्धमें यथेष्ट उल्लेख है। भार्गव विख्यात याज्ञिक थे। ये भृगुओंके पास प्रथम मातरिश्वा अग्निदेवको ले आये थे (१। ६०। १)। भार्गवोंने अग्निकी सेवा करके उन्हें जल, स्थल और वायुमें स्थापित किया था (२। ४। २)। इनके अभिलाषा-दाता अग्निदेव थे (३। २। ४)। भृगुओंने ही दावानल-रूपमें अग्निको वनमें स्थापित किया था (४। ७। १)। अपने आश्रमपर भी इन्होंने अग्निको स्थापित कर रखा था (६। १५। २)। इन्द्र अकर्मण्योंका धन लेकर भार्गवोंको देते थे (८। ३। ९)। ये इन्द्रके भी उपासक थे (८। ३। १६)। अग्निदेवोंके उपासकोंमें भृगु और मनु मुख्य कहे गये हैं (८। ४३। ३)। यज्ञ-विघ्नकारी मखका विनाश भी भृगुओंने किया था (९। १०१। १३)। प्रजापतिके शरीरसे नौ भृगुओंकी उत्पत्ति हुई थी (१०। २७। १५)। भार्गव रथका भी निर्माण करते थे (१०। ३९। १४)। ये ऋषियोंमें भी 'पण्डित' बताये गये हैं (१०। ४६। २)। इन्होंने स्तुतिके द्वारा अग्निको प्राप्त किया था (१०। ४६। ९)। प्रथम अथर्वाने यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अनन्तर भृगुओंने यज्ञ-सम्पादन किया (१०। ९२। १०)।

भार्गव वेन सोमाभिषवकर्ता थे (९। ८५। १०)। ये ९। ८५ और १०। १२३ के मन्त्र-द्रष्टा हैं। भार्गव नेम बड़े तेजस्वी ऋषि थे। उन्होंने इन्द्रपर भी कभी शङ्का की थी (८। ८९। ३)। इस ८९ वें सूक्तके ये ही वक्ता हैं। भार्गव इट १०।१७१ के, भृगुके अपत्य सोमाहुति २। ४–७ के और भार्गव स्यूमरश्मि १०। ७७-७८ के ऋषि हैं। स्यूमरश्मिके शत्रुको अश्विद्वयने तीर मारा था (१। ११२। १६)। भार्गव और्व और आप्नवान् भी प्रसिद्ध अग्नि-सेवक थे (८। ९१। ४)। वेनके पुत्र पृथु प्रसिद्ध स्तोता थे (१०। १४८। ५)। इस १४८ सूक्तके ये ही ऋषि हैं। इनके पुत्र तान्व १०। ९३ के ऋषि हैं। इसी सूक्तके १४ वें मन्त्रमें बली राजा रामका नाम आया है। यदि ताड़काका वध करानेके लिये राम और लक्ष्मणको ले जानेवाले विश्वामित्र मन्त्रद्रष्टा विश्वामित्र हैं तो मन्त्र-लिखित राजा राम भी दाशरथि राम हैं। ऋग्वेदमें ऐसे अनेक मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों और राजा-राजर्षियोंका भी विवरण है, जिनका साक्षात्कार श्रीरामचन्द्रसे हुआ था।

कवि उशनाका बहुत उल्लेख पाया जाता है। उशना शुक्राचार्यका नाम है, परंतु ऋग्वेद (५। ३१। ८) में ये भार्गव बताये गये हैं। ९। ४७—४९ और ७५—७९ सूक्तोंके ऋषि भी भृगु-पुत्र कवि उशना हैं। ये इन्द्रके उपासक थे। (१। ५१। १०-११)। गायोंके उद्धारमें उशनाने इन्द्रकी सहायता की थी (१। ८३। ५)। वृत्र-वधके लिये उशनाने इन्द्रको वज्र दिया था (१। १२१। १२)। इन्द्रने उशनाकी रक्षा की थी (१। १३०। ९)। भावावेशमें

वामदेवने कहा है कि 'मैं ही उशना कवि हूँ' (४। २६। १)। इनके विशिष्ट उपकारक इन्द्र थे (६। २०। ११)। मनुके गृहमें उशनाने ही अग्निको स्थापित किया था (८। २३। १७)। काव्य वा स्तोत्र करनेमें उशना प्रवीण थे। ९। ९७। ७)। अश्विद्वयने उशनाको संकटसे बचाया था। (१०। ४०। ७)। इन्द्रने उशनाके मङ्गलके लिये अत्कको मारा था (१०। ४९। ३)। ८। ७३ और ९। ८७-८९ के द्रष्टा उशना हैं।

अङ्गिराके पुत्र एक कुत्स ऋषि १। ९४—९८ और १। १०१-११५ सूक्तों तथा ९। ९७ के ४५—५८) मन्त्रोंके वक्ता हैं। दूसरे अर्जुन-पुत्र कुत्स ऋषि थे (४। २६। १ और ८। १। ११)। इनके सहायक इन्द्र थे (१। ६३। ४)। कुत्स एक बार कूएँमें गिर गये थे। इन्द्रने उनका उद्धार किया था (१। १०६। ६)। इन्द्रको भी अर्जुन कहा गया है (१। ११२। २३)। कुत्सके समस्त शत्रुओंका वध इन्द्रने कर डाला था (२। १४। ७) इन्द्र कुत्सके गृहमें तो जाते ही थे, दोनों एक साथ रथपर भी जाते थे (४। १६। ९-१२)। कुत्ससे डरकर अपनी 'शत'संख्यक सेनाओंके साथ पणि असुर भाग गया था। (६। २०। ४)। कुत्सके शत्रु शुष्णका वध इन्द्रने किया था (६। ३१। ३ और ७। १९। २)। इन्द्रने कुत्स राजर्षिके लिये दो प्रकारसे शत्रुनाश किया था (८। २४-२५)। एक अन्य मन्त्र (२। १९। ६) में भी कुत्स राजर्षि कहे गये हैं। एक दूसरे स्थान (१०। २९। २) पर भी इन्द्रके साथ कुत्सका रथपर गमन लिखा है। इन्द्रने प्रसन्न होकर कुत्सको वेतसु नामका देश दे दिया था (१०। ४९। ४)। पता नहीं वेतसु देश कहाँ था। उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि कुत्स नामके कई ऋषि और राजर्षि थे।

अथर्वा ऋषि ब्रह्माके ज्येष्ठ पुत्र थे। ब्रह्माने इनको ब्रह्म-विद्या पढ़ायी थी, जिसे इन्होंने अन्य ऋषियोंको दिया था। यह भी कहा जाता है कि अथर्वाने ही अरणि-मन्थन करके सर्वप्रथम अग्निको उत्पन्न किया और सबसे पहले इन्होंने ही यज्ञ किया-कराया था। कर्दम ऋषिकी पुत्री शान्तिसे इनका विवाह हुआ था, जिससे दधीचि ऋषिका जन्म हुआ। दधीचिको दध्यङ् भी कहा गया है। ऋग्वेदमें ऐसी कोई कथा नहीं है। हाँ, दधीचिके पिता अथर्वा कहे गये हैं।

१। ८०। १६ से विदित होता है कि अथर्वा, मनु और दधीचिने बहुत यज्ञ किये थे। यज्ञमें चुरायी गयी गायोंका मार्ग अथर्वाने ही बताया था (१। ८३। ५)। अथर्वाने अरणि-मन्थन करके अग्निको उत्पन्न किया और दधीचिने अग्निको समुज्ज्वलित किया (६। १६। १३-१४)। सत्यको असत्यसे दबानेवाले राक्षसोंको दध्यङ् अथर्वा मार डालते थे (१०। ८७। १२)। एक मन्त्र (१०। ९२। १०) में तो स्पष्ट ही कहा गया है कि अथर्वाने सबसे प्रथम यज्ञके द्वारा देवोंको संतुष्ट किया था। अथर्वाके पुत्र भिषक् १०। ९७ के ऋषि हैं। अथर्वाके दूसरे पुत्र बृहद्दिव १०। १२० के ऋषि हैं। ये ऋषि श्रेष्ठ और 'महाबुद्धि' कहे गये हैं (१०। १२०। ८-९)।

अथर्वाके पुत्र दधीचि विख्यात शैव थे। इन्होंने अपने शिष्य नन्दीको शिव-मन्त्रसे दीक्षित किया था। इन्होंने ही दक्षप्रजापतिको शिव-हीन यज्ञ करनेसे मना किया था। दक्षके न माननेपर ये यज्ञ-स्थलसे चले गये थे। वृत्रासुरके द्वारा स्वर्गसे खदेड़े जानेपर देवोंने जाना कि दधीचिकी हड्डीसे बने अस्त्रके द्वारा ही वृत्रका नाश होगा। फलतः इन्द्रने इनकी सेवामें पहुँचकर सारा अभिप्राय कह सुनाया। ये देवोपकारके लिये शरीरका दान 'अद्भुत संयोग' समझकर शान्तचित्त हो गये और योग-बलके द्वारा शरीरका त्याग कर दिया। इन्द्रने इनकी हड्डीसे वज्रास्त्र बनाकर उससे वृत्रका वध कर डाला। किंतु ऋग्वेदके उल्लेखसे इसमें थोड़ा भेद है।

१। ८४। १३-१४ में कहा गया है कि 'इन्द्रने दधीचिकी हड्डियोंसे वृत्रादि असुरोंको नवगुण-नवति (८१०) बार मारा। पर्वतमें छिपे हुए दधीचिके अश्व-मस्तकको पानेकी इच्छासे इन्द्रने उस मस्तकको शर्यणावत् सरोवर (कुरुक्षेत्रस्थ) में प्राप्त किया। हो सकता है कि पहले इस सरोवरके पास पर्वत रहा हो, जहाँ दधीचिने शरीर छोड़ा हो। १। ११६। १२ में कहा गया है—'अथर्वाके पुत्र दधीचि ऋषिने घोड़ेका मस्तक धारणकर अर्थात् घोड़ेके मस्तिष्कसे अश्विद्वयको मधु-विद्या सिखायी थी। यही बात १। ११७। २२ में भी है। यह विद्या इन्द्रसे दधीचिको मिली थी। यही विद्या 'प्रवर्ग विद्या-रहस्य' कहलायी। कक्षीवान् ऋषि कह रहे हैं—'अश्विद्वय! तुमने दधीचि ऋषिका मनोरथ पूर्ण किया था। उनके अश्व-मस्तकने तुम्हें मधुविद्या प्रदान की थी।' (१। ११९। ९) मनु अङ्गिरा आदिके साथ दधीचि 'पूर्वकालके ऋषि' कहे गये हैं (१। १३९। ९)। इन्द्रके मना करनेपर भी दधीचि

अश्विद्वयको मधुविद्या सिखायी थी; इसलिये इन्द्रने दधीचिका सिर काट डाला अर्थात् दधीचिके मस्तिष्कसे वह विद्या निकल गयी ।

च्यवन ऋषिके पिता भृगु थे और माता पुलोमा थीं । इनके गर्भस्थ रहते ही इनकी माताको एक राक्षस ले जाने लगा । घबराहटमें ये गर्भसे च्युत हो गये, इसलिये इनका नाम च्यवन पड़ गया । शिशुके प्रचण्ड तेजसे राक्षस जलकर भस्म हो गया । यथासमय ये तपस्या करने लगे । अनेक वर्षोंतक समाधिस्थ रहनेके कारण इनका शरीर दीमकोंसे छिप गया । एक बार राजा शर्याति सदल-बल वहाँ जा पहुँचे । दीमकमें छिपे ऋषिकी आँखें चमक रही थीं । राजाकी पुत्री सुकन्याने कौतूहल-वश आँखोंमें काँटे गड़ा दिये । ऋषि रुष्ट हुए । अन्तको राजाने सुकन्याका विवाह च्यवनसे करा दिया । इन्हें प्रमति नामका पुत्र हुआ । अश्विद्वयके प्रतापसे इनको तारुण्य प्राप्त हुआ ।

ऋग्वेद (१ । ११६ । १०) में कहा गया है कि 'अश्विद्वयने च्यवनका वार्द्धक्य दूर किया था १ । ११७ । १३ से ज्ञात होता है कि भैषज्यके द्वारा ही अश्विद्वयने ऋषिको नव यौवन प्रदान किया था । ५ । ७४ । ५ में कहा गया है— तुम दोनों (अश्विद्वय) ने जराजीर्ण च्यवनके हेय और पुरातन कुरूपको कवचके समान विमोचित किया था । जब तुम दोनोंने उन्हें पुनर्वार युवा किया था, तब उन्होंने सुन्दरी कामिनीके द्वारा वाञ्छित मूर्ति (पुत्र) को प्राप्त किया था ।' प्रायः यही बात ७ । ७१ । ५ और १० । ३९ । ४ में भी है ।

त्रित ऋषि भी ब्रह्माके मानस पुत्र थे । मतान्तरमें ये गौतम ऋषिके पुत्र थे । इनके द्वित और एकत नामके दो सहोदर भाई इन्हें पिताके समान मानते थे । एक बार विपिनमें ये भेड़िया देखकर भागे और कुएँमें गिर पड़े । स्तुति करनेपर देवोंने इनको बचाया । सभी बातें तो नहीं, परंतु अन्यान्य ऋषियोंके समान ऋग्वेदसे इनकी कुछ बातें मिलती हैं ।

जैसे दूसरे ऋषि अपने नाम ले-लेकर मन्त्रोंमें अपना कथानक कहते हैं, वैसे ही त्रितने भी कहा है । अनेक स्थानोंमें इनका नाम आपत्य त्रित आया है । ये अपने देखे १ । १०५ सूक्तके ९ वें मन्त्रमें कहते हैं—'ये जो सूर्यकी ७ किरणें हैं, उनमें मेरी नाभि, मर्मात्मा वा वासस्थान है । यह बात आप्त्य त्रित जानते हैं और कूपसे निकलनेके लिये रश्मिसमूहकी स्तुति करते हैं ।' इसी सूक्तके १७ वें मन्त्रमें पुनः कहते हैं—'कूपमें गिकर त्रितने रक्षाके लिये देवोंको पुकारा । बृहस्पतिने उसका उद्धार किया ।' त्रितके द्वारा बर्द्धित होकर इन्द्रने अर्बुद असुरको नष्ट किया था (२ । ११ । २०) । त्रितके शत्रुओंका विनाश मरुतोंने भी किया था (२ । ३४ । १०) । इनके रक्षक इन्द्र भी थे (बालखिल्य ४ । १) । त्रितने स्वयं छिन्न और हरित सोमको प्रस्तुत किया था (९ । ३२ । २ और ३८ । २) । त्रित अनन्य पितृभक्त थे । इन्होंने अपने पिताके युद्धास्त्रोंको लेकर युद्ध किया और त्रिशिरा असुरका वध कर डाला (१० । ८ । ७-८) । कदाचित् त्रित नामके कई ऋषि थे (१० । ४६ । ३) ।

८ । ४७, ९ । ३३ और १०२-१०३ तथा १० । १–७ सूक्तोंके द्रष्टा आप्त्य त्रित हैं । इनके पुत्र भुवन ऋषि १० । १५७ के द्रष्टा हैं ।

सौभरि ऋषि प्रसिद्ध तपस्वी थे । अन्य कई ऋषियोंके समान इनका भी विवाह महाराजा मान्धाताकी कन्यासे हुआ था । परंतु अन्तको ये गृहस्थीका त्यागकर गहन कान्तारमें तपोनिरत हो गये । इनको कहीं सौभर और कहीं सोभरि भी कहा गया है । इस प्रकारकी गड़बड़ी अनेक ऋषियोंके नामोंके अक्षर-विन्यासमें है । कदाचित् यह लिपिकारों और मन्त्र सुन-सुनकर कण्ठस्थ करनेवालोंके कारण हुई है ।

सोभरिके वंशजोंके रक्षक अग्निदेव थे (८ । १९ । ३२) । ये और इनके पिता अश्विद्वयके पूजक थे (८ । २२ । १५) । इन्होंने पुनः-पुनः अग्निका आवाहन किया था (८ । ९२ । १४) । इस ९२ वें सूक्तके ये ही ऋषि हैं । कण्वगोत्रीय सोभरि ८ । १९-२० के और कण्वपुत्र सोभरि ८ । २१-२२ के द्रष्टा हैं । कदाचित् इस नामके कई ऋषि थे । १० । १२७ के द्रष्टा सोभरि-पुत्र कुशिक कहे गये हैं ।

अश्विद्वयके उपासक कण्वगोत्रीय वत्स ऋषि थे (८ । ८ । ८) । यहीं ११ वें मन्त्रमें ये मेधावी और मेधावीके पुत्र कहे गये हैं । इनका स्तोत्र मधुमय होता था । ये स्तोत्रोंसे अश्विद्वयको संवर्द्धित करते थे (वहीं १५ और १९) । अश्विद्वय इनकी रक्षामें रहते थे । इन्होंने सोम और घर्म (हविर्विशेष) से यज्ञ किया था (८ । ९ । १ और ७) । देवोंको इनकी स्तुति अत्यन्त प्रिय थी (८ । ११ । ७) । ये ८ । ६ । ७ और ११ सूक्तोंके ऋषि हैं । १० । १८७ के ऋषि अग्नि-पुत्र वत्स हैं ।

ऋचीक ऋषिके मँझले पुत्र और विश्वामित्रके भागिनेय शुनःशेप थे। विश्वामित्रने इनका नाम देवरथ रखकर इन्हें पोष्यपुत्र बना लिया।

परंतु ऋग्वेद (१ । २४ । १३) में कहा गया है कि 'शुनःशेपने धृत और तीन काठोंमें आबद्ध होकर अदितिके पुत्र वरुणका आह्वान किया था। इस सूक्तमें शुनःशेपने पहले अग्नि और सूर्यकी स्तुति की है और अन्तमें वरुणदेवकी। ऋग्वेदमें ये अजीगर्त्तके पुत्र कहे गये हैं। ऋचीकका नाम अजीगर्त्त भी था।

१ । २४–३० और ९ । ३ सूक्तोंके द्रष्टा शुनःशेप हैं।

रथ और एतश ऋषियोंका एक साथ ही बहुत बार उल्लेख है। इनके रक्षक इन्द्र थे (१ । ५४ । ६)। इन्हें युद्धमें इन्द्रने बचाया था (१ । ६१ । १५)। एतशने इन्द्रको सोम प्रदान किया था (२। १९।५)। इन्द्रके द्वारा रक्षाकी बात अनेक मन्त्रोंमें है (४ । ३० । ६ और ५ । ३१ । ११)। इन्हीं एतशको एक मन्त्र (८ । १ । ११) में राजर्षि भी कहा गया है।

आङ्गिरस अयास्य ऋषि विख्यात देवपूजक थे (९ । ४४ । १)। ये संसारके हितैषी बताये गये हैं (१० । ६७ । १)। पणियों द्वारा चुरायी गायोंके उद्धारमें अयास्यका भी हाथ था (१० । १०८ । ८)। ये ९ । ४४–४६ और १० । ६७–६८ सूक्तोंके ऋषि हैं।

विमद ऋषि प्रजापतिके पुत्र थे। ये इन्द्रोपासक थे (१ । ५१ । ३)। पुरुमित्र राजाकी कन्यासे अश्विदयने इनका विवाह कराया था (१ । ११२ । १९; १ । ११७ । २० और १० । २९ । ७)। ये परम याज्ञिक थे (१० । २० । १०; १० । २१ । १ और ६)। इनके वंशजोंने 'विलक्षण और विस्तृत' स्तोत्र आविष्कृत किये थे (१० । २३ । ६)। ये १० । २०–२६ के ऋषि हैं।

शंयु ऋषि बृहस्पतिके पुत्र थे (१ । ३४ । ६ और १ । ४३ । ४)। अश्विद्वयने इनकी गायकों दुग्ध-पूर्ण किया था (१ । ११७ । २० और १ । ११८ । ८)। अश्विद्वय इनके रक्षक थे (१० । ४० । ८)। ६ । ४४–४६ और ४८ सूक्तोंके ये ही ऋषि हैं।

गौरवीति ऋषि इन्द्रके विशिष्ट स्तोता थे (५ । २९ । ११)। ये शक्ति ऋषिके पुत्र थे। ५ । ९, ९ । १०८ और १० । ७३–७४ के ये ऋषि हैं।

देवल ऋषिके पिता असित थे और अनुजका नाम धौम्य था। इन्हीं देवलके आश्रमपर विख्यात राजर्षि जैगीषव्य इनके पहले ही सिद्ध पुरुष हो गये। फलतः देवलने इनका शिष्यत्व ग्रहणकर मोक्ष प्राप्त किया। ९ । ५–२४ सूक्तोंके ऋषि असित और देवल हैं। ये कश्यपगोत्रज थे।

वालखिल्य मुनि ब्रह्माके मानसपुत्र थे। कहा जाता है कि इनकी संख्या साठ हजार थी।

परंतु ऋग्वेद (१० । २७ । १५) में कहा गया है कि 'इन्द्ररूप प्रजापतिके उत्तरी शरीरसे वालखिल्य आदि आठ उत्पन्न हुए।' अष्टम मण्डलके अन्त और नवम मण्डलके आदिमें इनके देखे ११ सूक्त हैं। प्रथम सूक्तके ऋषि कण्वपुत्र प्रस्कण्व, द्वितीयके प्रष्टिगु, तृतीयके श्रुष्टिगु, चतुर्थके आयु, पञ्चमके मेध्य, षष्ठके मातरिश्वा, सप्तमके कृशि, अष्टमके पृषध्र, नवम और दशमके भी मेध्य और एकादशके सुपर्ण ऋषि हैं। इन सूक्तोंपर सायणने भाष्य नहीं लिखा है।

वम्र ऋषि इन्द्रके उपासक थे (१ । ५१ । ९)। इनके रक्षक अश्विद्वय भी थे (१ । ११२ । १५)। ये विखनस्के पुत्र थे। १० । ९९ के ये ऋषि हैं।

अतिथिग्व और आयु ऋषिके शत्रुओंका वध इन्द्रने किया था (३ । १४ । ७)। इन्द्रने आयुके वशमें इनके शत्रुओंको कर दिया था (१० । ४९ । ५)। इन्द्र इनके सदा रक्षक थे (वालखिल्य ५ । २)। ये वालखिल्य सूक्त ४ के ऋषि हैं।

इन्द्रने प्रवाहशील जलके पार जानेके लिये तुर्वीति और वय्य ऋषियोंको मार्ग दिया था (२ । १३ । १२)। ५ । ७९-८०, सूक्तोंके द्रष्टा सत्यश्रवा ऋषिके वय्य पिता थे।

'इन्द्रने तुर्वीति ऋषिके निवास-योग्य एक स्थान बनाया था (१ । ६१ । ११)। ये अर्जुन या इन्द्रके पुत्र कहे गये हैं (१ । ११२ । २३)।

यह वैज्ञानिक इन्द्रजाल

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[गताङ्क पृष्ठ ८०४ से आगे]

आत्मसमर्पण

इस प्रकार विषव्यसनसे रोग होनेपर शरीरमें भीतर या बाहर कोई अङ्ग रोगी हो गया हो, घाव या गाँठ हो गयी हो, वह सड़ रहा हो तो उसपर दवा या इंजेक्शन उपयोगी न होनेसे चीर-फाड़द्वारा उसे काट निकालकर या सुधारकर रोगीको जिंदा रखने, उसका उपकार करनेकी वैज्ञानिक प्रथा, सरकारको अनेक रूपोंमें टैक्स या चंदा देकर जनताद्वारा स्वयं पोषित है। शरीर-विज्ञानकी विशेष शिक्षा और छुरीबाजीकी कलाके अभ्यासमें विशिष्ट संस्थाओंसे दक्ष होकर निकले हुए एवं सरकारद्वारा लायसेंस पाये हुए 'डॉक्टर-सर्जन' ही इसे करनेका अधिकार रखते हैं। अन्य साधारण व्यक्ति करे तो अपराध, जुर्माना, सजा ! रोगीका उपकार करनेमें सिद्धहस्त ऐसे अधिकारीसे अज्ञानवश, संयोगवश अथवा लालचवश या अन्य ऐसे ही कारणोंसे रोगी प्राण त्याग दे तो उनका कोई अपराध नहीं; क्योंकि पहले रोगीसे लिखा लिया जाता है—'मैं अपनी मर्जीसे आपरेशन कराना चाहता हूँ,' और वह अपनी मर्जीसे देहपर छुरी चलानेके लिये सैकड़ों हजारों रुपयेकी फीस-मजदूरी उस अधिकारीको पहले दे देता है।

भारतके उदाहरण तो जीते-जागते इन वैज्ञानिक बूचड़खानोंमें रोज मिलेंगे किंतु इस जघन्य रक्तपातको देखनेके लिये जनसाधारणको वहाँ प्रवेश नहीं मिलता—चाहे वह कितना भी निकट सम्बन्धी हो। वहाँ तो केवल छुरी और विष-धंधेके अधिकृत जातिबन्धु ही रहते हैं। अमेरिकाके एक ऐसे ही कुशल विशेषज्ञ सर्जनके पास एक इटालियन महिला अपने निदान और इलाजके लिये गयी। बताया गया, पेटमें गाँठ है। आँपरेशन करना होगा, अन्यथा खतरा होगा। इस महिलाको छः मास पूर्व गर्भपात हो गया था और उसके तीन मास पश्चात् वह पुनः गर्भवती हो गयी; परंतु उसे गर्भस्थितिकी कल्पना न हुई, समझा कि पहलेका कुछ अंश रहकर गाँठ बन गयी है; इसलिये वह डॉक्टरके पास गयी थी। इस अज्ञानवश अपने घरवाले भोले इटालियन परिवारके लोगोंसे परामर्श और आज्ञा लेकर वह महिला निश्चित दिन ऑपरेशनके लिये आयी। इस डॉक्टरने इस ऑपरेशनकी अपनी कुशलता दिखानेके लिये अपने अन्य मित्र डॉक्टरोंको भी बुलाया था, एक लेडी डॉक्टर भी थी। जब वह महिला स्वयं छुरीका शिकार बनने बारीक वस्त्र पहने उस वैज्ञानिककी टेबलपर आयी तो उपस्थित लेडी डॉक्टर तथा अन्य डॉक्टरोंने बारीक वस्त्रमेंसे उसके उदर-भागको आँखें फाड़कर देखा और परस्परकी ओर आश्चर्यसे देखने लगे। वे जान गये कि यह महिला गर्भवती है। एक डॉक्टरने विशेषज्ञ सर्जनसे पूछा—'साहब ! आपने इनकी पूरी परीक्षा कर ली है ?'

साहब बोले—तुम क्या मुझे इतना मूर्ख समझते हो कि परीक्षा किये बिना मैं ऑपरेशन करूँगा ? तुम मित्र हो, अन्यथा कोई दूसरा होता तो ऐसा प्रश्न सुनकर मैं उसे बाहर निकाल देता।

साहबने छुरी चलायी और उस गाँठको काटकर निकाल लिया। वह गाँठ नहीं थी, सजीव गर्भ गर्भाशयमें था। दूसरे डॉक्टरने चीरकर उसे देखा और इस गर्भको साहब अपनी मोटरमें अपने घर प्रयोगशालामें ले गये, एक बड़ी बोतलमें भरे रासायनिक मिश्रणमें डाल दिया, अपनी कौशलका नमूना—पुरस्कार ! और वह महिला चार दिनमें संसारसे विदा हो गयी। परंतु डॉक्टरी धंधेके कठोर नैतिक बन्धनमें बँधे हुए कोई डॉक्टर ऑपरेशनसे पहले या बादमें कुछ नहीं कह सके। ये सब बातें आपसमें गुप्त रखने, परस्पर मिल-जुलकर काम करने, परस्परकी गलतीपर कभी विरुद्ध गवाही न देनेके कठोर नियम हैं और सभी लोग धार्मिक कट्टरता-पूर्वक इस व्यापारिक नियमको निभाते हैं। यह धर्म संसारके सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है। कोई भी धर्म या समाज देश, जाति या परिवारका व्यक्ति, भाई-भाई आपसमें विरुद्ध गवाही, कानूनी कार्यवाही कर सकते हैं, परंतु ये डॉक्टर आपसमें एक माँसे उत्पन्न भाईयोंसे बढ़कर, रूह एक, शरीर अनेककी तरह मिले-जुले संगठित हैं, 'सूत्रे मणिगणा इव' एक सूतमें पिरोये हुए मालाके दानेके सदृश हैं।

ऐसे ही बहुत-से मामलोंका अमेरिकाका एक ईमानदार

(परंतु डॉक्टरी दृष्टिसे द्रोही) डॉक्टर नॉरमन बार्नसबी एम्० डी० ने अपनी मोटी पुस्तक *'डॉक्टरी अन्धेर और पाप'में भण्डाभोड़ स्पष्टरूपसे साक्षी होकर किया है।

आजकल तो इस विशाल मानव-शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी चिकित्सा व चीर-फाड़ करनेके लिये विशेषज्ञ सर्वत्र व्याप्त हैं। सारे शरीरके सब अङ्ग परस्परसे समन्वित हैं, इसीसे एकमें विकार होनेसे दूसरा भी रोगी होता है, इतना न जानकर ये वैज्ञानिक विशेषज्ञ अमुक अङ्गविशेषकी अलग चिकित्सा करते हैं। सम्पूर्ण शरीरकी परीक्षा नहीं करते, मानो सब अङ्ग अलग-अलग हों। यह कैसा अन्धेरका विज्ञान है। आँखका डॉक्टर पेटके विषयमें कुछ नहीं जानता या करता। दाँतवाला केवल दाँत उखाड़ेगा, दवा नहीं बतायेगा, अन्यथा उसपर अपराध कायम हो जायगा। दवा बताना, देना दूसरे डॉक्टरका काम है।

ईश्वरके गुरु

प्रकृति कहिये, अथवा परमात्माने अपनी दृष्टि और कला-योजनासे मानवकी ऐन्द्रिक शक्तियाँ सीमित बनायी हैं, असीम नहीं। असीम-ससीमका यही सम्बन्ध है, सूक्ष्म और स्थूलका। इन इन्द्रियोंसे दूरकी देख, सुन, बोल न सकने और पार्थिव घनत्वके कारण पानीपर या भीतर तथा हवामें तैर न सकनेके कारण उसने अपनी बुद्धि दौड़ाकर प्रयोगोंसे अब दूरवालोंको देखता, सुनता, उनसे बातें करता और जलवायुमें तीव्रगामी हो गया है। ईश्वर-पूजाकी अब उसे आवश्यकता नहीं, वह आत्मपूजक पुरुषार्थी स्वयं ब्रह्मका नगाड़ा बजाने लगा है। ईश्वरने मनुष्यके साथ दो अन्याय किये हैं। वैज्ञानिकोंने पता लगाया है कि शरीरमें छोटी-बड़ी आँतोंके जोड़में †अन्त्र-पुच्छ व्यर्थ लगा दी है और उसे ये रोगियोंके पेट फाड़कर काटकर निकाल फेंकने लगे हैं! ईश्वरकी भूलको सुधारनेवाले ये ईश्वरके गुरु! दुनियाके किन्हीं देशोंमें तो आजकल जन्मजात बच्चोंके पेट चीरकर ये उसके अन्त्रपुच्छको निकाल देनेकी प्रथा वैज्ञानिक संस्कारके रूपमें चला चुके हैं जिससे आगे उसे कोई वैसा रोग न हो।

ईश्वरका दूसरा अन्याय अथवा भूल यह है कि उसने मानुष चोला अन्धकारमय बनाया है, बाहर चर्मपरसे भीतर-का कुछ दिखता नहीं। सो उसके भीतर सब कुछ अच्छी तरह देखनेके लिये भी इन्होंने तिलस्मी वैज्ञानिक प्रकाश‡ बना लिया है जो सूर्यके प्रकाशसे भी अधिक सूक्ष्म है। वह मानुष-कङ्कालका दर्शन कराता है।

बहत्तरसे सत्ताईस

जन्म लेनेके साथ ही शरीर बढ़ना आरम्भ हो जाता है, लोग इसे वर्षोंकी संख्याके साथ उम्र बढ़ना समझते हैं, किंतु वास्तवमें समझें तो उम्र घटना आरम्भ हो जाता है; क्योंकि लोगोंकी यह भी धारणा है कि विधाताने निश्चित कालतक हमें इस मृत्युलोकमें कर्म करनेके लिये अथवा पूर्वकर्मोंको भोगनेके लिये भेजा है। उसीके अनुसार हमें रोग और मृत्यु प्राप्त होती है। ५० वर्ष होनेपर व्यक्ति ५१वेंमें प्रवेश करता है, ४९वेंमें वापस नहीं लौटता। ज्यों-ज्यों उम्रकी संख्या बढ़ती है, ऐन्द्रियिक शक्ति घटती है, इसलिये शरीरायुको दीर्घ करनेके जिज्ञासु, संसार-वासनाके प्रेमी हमेशा जवान बने रहनेकी इच्छासे हजारों वर्षोंसे ऐसे रस-रसायनकी खोज करते आये हैं, जिससे सदा जवानी कायम रहे।

अभी एक ऐसे जिज्ञासु वैज्ञानिकने चार वर्ष पूर्व एक ७२ वर्षके व्यक्तिपर वैज्ञानिक उपचारसे उसकी उम्र उलटने-का प्रयत्न किया था। लन्दनके इस विख्यात विशेषज्ञने उस व्यक्तिकी उम्रको 'उल्टी गङ्गा' की तरह बहाना चाहा कि ७२ से वह व्यक्ति २७ वर्ष-जैसा जवान बन जाय।

आप लोगोंको यह वैज्ञानिक प्रयोग सुनकर अवश्य आश्चर्य होगा। कदाचित् आपको भी अपने लाचार बुढ़ापेसे घृणा होकर, बिजलीकी चमककी तरह पहलेकी खोई हुई जवानीकी उमंग पा जानेकी उमंग मनमें पैदा हो जाय! यह प्रयोग कायाकल्पकी क्रियासे बिल्कुल भिन्न है। इसके पूर्व ३० महिलाओंपर वे डाक्टर अपने प्रयोग कर चुके हैं। उन महिलाओंके चर्मपर परिवर्तन हो गया था, रक्तके लालकण बढ़ गये थे, सफेद बाल काले हो गये थे। उन सबकी औसत उम्र ७५ वर्ष थी। इसी प्रयोगके अनुभव-आधारपर उस डॉक्टरने ७२ वर्षके महोदयपर प्रयोग करनेकी प्रेरणा व उत्साह पाया।

इस प्रयोगका वैज्ञानिक इन्द्रजाल सुनिये। डॉक्टरोंका कहना है कि शरीरकी ग्रन्थियोंकी क्रियाशीलतासे जवानी कायम रहती है और शिथिलतासे बुढ़ापा आता है। अतएव यदि

* Norman Barnesly Medical chaos and Crime.

† Appendix

‡ X ray

आकस्मिक दुर्घटनाओंसे मरते हुए जवान आदमियोंकी एड्रिनल ग्रन्थियाँ बूढ़ोंको लगा दी जायँ तो ग्रन्थियोंकी उत्तेजित क्रियासे जवानी लौट सकती है, उससे सारे शरीरकी रासायनिक क्रियामें परिवर्तन हो जायगा।

कतिपय डॉक्टर ऐसे ही अन्य प्रयोग करके असफल होकर इसे छोड़ चुके हैं और इससे सहमत नहीं हैं।

कायाकल्प रसायन

जबसे भगवान्ने मनुष्य बनाया और आयु पूरी करके वह मरने लगा, अथवा जबसे मनुष्यको अवतार लेनेके बाद अपनी गल्तीसे रोग, ताप, मृत्यु होने लगी, तबसे बुद्धिपूर्वक वह रोग, ताप, मृत्युसे लड़ने, सदा जवान और अमर बने रहनेका रसायन खोजने-बनानेमें अबतक लगा हुआ है। अपने अतिभोजन, असंयम, व्यसन और कुकर्मी पशुप्रवृत्तिपर आत्मविजयका स्वयंमें सामर्थ्य न पाकर, अपनी इन दूषित मारक प्रवृत्तियोंको सुखदायीरूप मानकर कायम रखते हुए मजेमें जीनेके लिये हीरा-भस्म सेवन करके, अब वैज्ञानिक बनकर पशु एवं अन्य प्राणियोंके रक्त, मल, मूत्रसे भी ऐसा रसायन बनाने लगा है। ऐसे एक चमत्कारी पुनर्यौवनकारक प्रयोगके अन्वेषणका समाचार लन्दनसे १७ मई १९५८ के प्रकाशित 'डेली मिरर' अखबारमें छपा है, जिससे मालूम होता है कि अपना पाप बढ़ानेके लिये कितनी दूरतक वैज्ञानिक मानवने अपनी घृणित बुद्धि दौड़ायी है। एक बूढ़ेको युवा बनानेका नुस्खा एक डॉक्टरके दिमागमें सूझा। डॉ० नीहान्सने एक गर्भिणी भेड़को जिंदा चीर-फाड़कर मार डाला, उसका गर्भाशय निकालकर जल्दीसे अपनी मोटर-में वैज्ञानिक प्रयोगशाला ले गये, वहाँ चीरकर उसमेंसे गर्भस्थ जिंदा भ्रूण मेमनेको निकालकर उसको भी चीर डाला और उसके मस्तिष्क, हृदय, यकृत आदि अङ्गोंको निकाला और उन्हें अलग-अलग काँचके बर्तनोंमें सुरक्षित रख दिया, जिनमें पहलेसे कोई तरल रासायनिक पदार्थ रखा हुआ था। प्रत्येकमें उन अङ्गोंको घोलकर उन्होंने ६० इन्जेक्शन तैयार किये। ये इन्जेक्शन उन धनाढ्य बूढ़ोंको दिये जायँगे जो अपनी जवानी वापस बुलाना चाहते हैं। इस प्रयोगसे दो मासमें ८० वर्षवाले ६० के, ६० वाले ४० के और ४० वाले २० के बन जायँगे!

बहुत वर्ष पहले लोग बंदरकी ग्रन्थियोंके प्रयोग कर चुके हैं। इन रासायनिक हत्यारे प्रयोगोंसे मनुष्य, भेड़, बंदर, सूअरके रस, रक्त, पीव और अङ्गोंको वैज्ञानिक पद्धतिसे अपने शरीरमें प्रवेश करवाकर स्वयं क्या भेड़, बंदर, सूअर, नहीं बनता जा रहा है? भेड़, बंदर, सूअर अब मनुष्यके चोलेमें प्रविष्ट हो रहे हैं! अथवा कहिये कि विकास-क्रमसे जो बंदर मनुष्य बन गया है, वह अब, वैज्ञानिक साधनसे लौटकर भेड़, बंदर, सूअर बन रहा है। मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है!

बताया जाता है कि दूधको फाड़कर चीज (पनीर) बनाया जाता है और उसे वैज्ञानिक विधिसे रखकर कालान्तरसे जब उसमें कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं तब उन कीटाणुओंको मारकर उसको ठोस बनाकर रख दिया जाता है। तब यह खानेयोग्य और शरीरके लिये बड़ा पोषक होता है।

सम्भवतः ऐसे पदार्थ खानेवालोंने ही कीटाणुवादका शोध किया। और वह विज्ञान इतना विकसित हुआ कि कच्छ, मच्छ, वाराह अवतारके, सृष्टिकालके आदिम चरणयुग अब वैज्ञानिक रूपमें अपनी आँखोंसे देख लीजिये।

इन सब विषाक्त घृणित प्रयोगोंसे भूमि, फसल, भोजन, पानी सब विषाक्त होनेसे मानवकी सामाजिक फसल—संतान भी कीटाणुवत् बन रही है। कुछ सौ वर्षोंमें आगेके मानव सृष्टि करनेयोग्य न रह जायँगे, फिर सबके मर जानेपर पृथ्वीपरसे मानव लुप्त हो जायगा। पशु-पक्षी, कीटाणु मात्र बच रहेंगे, न विज्ञान रहेगा, न वैज्ञानिक रहेंगे।

इतना सब पढ़कर आप कहेंगे—मैं बड़े अंधेरकी बातें लिख रहा हूँ, जो विज्ञान सारी दुनियामें प्रचलित, सरकारोंद्वारा पोषित है, वैज्ञानिक लोग अपने तथ्योंको प्रयोगद्वारा सिद्ध करते हैं, क्या सब दुनिया बेवकूफ-पागल है! चिकित्सा-शास्त्र सैकड़ों वर्षसे चला आ रहा है।

मैं कहता हूँ इस विज्ञानका साक्षात् नतीजा देख लीजिये। कोई भी बात बहुमान्य अथवा पुरानी होनेमात्रसे सत्य शिव सुन्दर होनेका प्रमाण नहीं है। उसके गुण-दुर्गुणका परिणाम देखिये। अधिक नहीं, गत पचास वर्षोंमें विज्ञानने जो उन्नतिका नगाड़ा पीटा है, उससे मानवका रोग कितना घटा है, स्वास्थ्य कितना बढ़ा है, उसे पौष्टिक भोजन, पानी, वातावरण, मानसिक शान्ति, प्रसन्नता कितनी मिल रही है? विज्ञान मनुष्यकी हत्या कर सकता है, मनुष्यको पैदा नहीं कर सकता। मनुष्य सोना पैदा करे, किंतु सोना मनुष्यको नहीं पैदा कर सकता। जंगलीपन और नास्तिकता सबसे पुरानी और आदि-कालमें प्रचलित थी, फिर इसीको अच्छा क्यों नहीं मानते?

हिंसक कलाकार

जंगली प्रदेशकी जंगली जातियोंकी फिल्मोंमें 'मानव बलि'के प्रसंग सिनेमामें दिखाये जाते हैं कि देवी-देवताओंके कोपसे होनेवाली महामारीसे बचनेके लिये वे पशुबलि या मानवबलि उन देवताओंको चढ़ाते हैं, यह समझकर कि देवी-देवता रक्तके भूखे-प्यासे होते हैं। आजकल वैज्ञानिक सभ्यता और मानवताके आदर्शमें इस प्रकारकी 'बलि'प्रथाकी अमानुषिकताको दूर करनेके लिये अहिंसावादी धार्मिक संस्थाओं और कानूनी प्रतिबन्धका विकास हुआ है; फिर भी 'पशु-बलि'का उतना विरोध नहीं है, अब तो भेड़-बकरोंके साथ गाय-बैल, गधे-घोड़े और शूकरको वैज्ञानिक विधियन्त्रोंसे हलाल करनेका विश्वव्यापक व्यापार नित्य होता है, मानवका अन्न-पानीसे पेट नहीं भरता, वह इन पशुओंको हलालकर उनके रक्त-मांससे अपनी भूख-प्यास बुझाता है। मानवताकी धार्मिक संस्था और समताका कानून केवल मानवके अपने लिये है।

परंतु इस व्यापारके साथ-साथ अब अहिंसावादका वैज्ञानिक रूप तो हमारे सामने है। उस व्यवस्थामें मनुष्यको जिंदा रखते हुए मनुष्य मनुष्यको उसका रोग-दुःख दूर करनेके लिये अमृत औषधके नामपर विषभरी दवा देकर, मीठे, भ्रान्त और अनिश्चित शब्दजालमय विज्ञापनसे उसे भुलावा देकर, उसे कीमतसे दवा देकर, उसके रक्तमें विष घोलकर, उसके शरीरपर छुरी चलाकर और प्रचलित प्राकृतिक जल, दूध एवं भोजनके तत्त्वोंको विषाक्त बताकर उनको शुद्ध सुपाच्य बनानेके धोखेमें विष घोलकर—उसे रोगी बनाते हुए—चूस-चूसकर धीरे-धीरे उसका—अपने मानव-बन्धुका बलिदान किया जाता है। किसी देवी-देवता परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं, वरं अपनी ही पेटकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये, अपने विज्ञापन-कला और विज्ञानद्वारा अज्ञानियोंके अज्ञानके कारण उनकी ही बलि चढ़ाते हैं। और ये अज्ञानी रोगी खूब धन देकर, स्वास्थ्यके स्वर्गीय सुख पानेकी मृगतृष्णा—मृगजालमें फँसकर स्वयं बलिदान होते हैं। ऐसा आस्ट्रेलियाके अस्पतालकी एक ईमानदार 'मेट्रन'ने स्पष्ट कहा है—'नौ की लकड़ी नब्बे खर्च' 'टकेकी मुर्गी नौ टका किराया।' ठीक इन कहावतोंके पर्याय आज दवाका व्यापार है। दो पैसेकी दवा, चार आनेकी शीशी, पैकिंग और बारह आनेका विज्ञापन। अमेरिकामें बीस हजार अखबारोंको अधिकांश मुनाफा इसी विज्ञापनसे होता है। दवा बनानेवालोंको जितना मुनाफा होता है, उससे कई गुना मुनाफा विज्ञापन करनेवाले अखबार, रेडियोवालोंको होता है। और एक दवा हमेशा उसी नामसे कायम न रहकर हर साल नये नामसे नये चमत्कारी गुणसे विज्ञापित होती है। सालभरमें पूर्व विज्ञापित दवाको उपयोगमें प्रभावहीन जानकर जनता उससे मन मोड़ लेती है, तब उसे नयी चमत्कारी चीज बताकर प्रसार किया जाता है। इस व्यापारमें शब्द बेचनेवाले साहित्यकार और चित्रकारोंका भी प्रमुख हाथ है। शब्द-रचनाके आकर्षक ढंगसे और चित्रकारीसे अज्ञानी रोगी जनताको ये ज्ञानी और कलाकार बेवकूफ बनाते हैं, फुसलाते हैं, अपनी कलापर दवावालोंसे धन कमाते हैं। दवा ही नहीं—बीड़ी, सिगरेट, शराब-जैसी घातक वस्तुएँ भी ऐसे ही विज्ञापनसे ही तो फैल रही हैं। भारतमें यह रोग बुरी तरह झपाटे-से फैल रहा है।

राजनैतिक और जनताको उभाड़नेवाले भाषण देनेवाले वक्तापर कानूनसे रोक लगायी जाती है। पकड़कर 'शान्ति भङ्ग' करनेके अपराधपर जुर्माना-जेलकी सजा होती है। उनके भाषण अखबारमें छपनेके पहले 'सेंसर' होते हैं; परंतु वैज्ञानिकता, रोगनाश और स्वास्थ्य-साधनके नामपर दवाके धंधेधारी अधिकारी लोग अपनी शब्दचातुरी, वाक्चातुरी, चित्रचातुरी अथवा छुरीचातुरीसे दुखी-रोगी जनताका 'शरीर' भंग करते हैं, जिनका अखबारोंपर रुपयेके बलपर आधिपत्य है, जिन्हें कानूनकी ओरसे कोई रोक न होकर पूरी स्वतन्त्रता है। आजकल उन जंगली जातियोंद्वारा परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये 'मानव-बलि' की प्रथाको हम अज्ञानका युग कहते हैं; परंतु उसके स्थानपर 'मानव-बलि' आजकल सभ्य मानवद्वारा जीवित रूपमें विज्ञानके युगमें दिन-दहाड़े विश्वव्यापक है। मनुष्य मनुष्यको जिंदा रखते हुए धीरे-धीरे बुद्धिपूर्वक वैज्ञानिक विधिसे चूस-चूसकर खाता है। यह है हमारी मानवताका मानवके प्रति आत्मीय व्यवहार! बुद्धिमान् मूर्खको खाता है, सबल निर्बलको खाता है, शासक शासितको खाता है, धनिक गरीबको खाता है। भक्ष्य अपने भक्षकके आश्रयमें पलता है, उसे अपना पोषक और रक्षक मानता है। अज्ञानपर ज्ञानका चमत्कार! कहने तात्पर्य यह है कि हे मेरे देशके रोगी-व्यसनी माताओ-पिताओ मुर्दार होनहार संतानके माताओ, पिताओ और मेरे देशके भाई-बहिनो! यदि आपको सात्त्विक नीरोगी बनकर जीवनका आनन्द लेना है, सच्चे अहिंसक बनना है, तो इन देशी-विदेशी

वैज्ञानिक प्रचारित वस्तुओं, दवाओंका विज्ञापन, धंधा और प्रयोग अपने परिवारमें बहिष्कार कर दें। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता निरर्थक है। जबतक कि राष्ट्रका प्रत्येक व्यक्ति सात्त्विक स्वस्थ सबल न हो, स्वतन्त्रता कंकालमात्र और ढोलकी आवाजमात्र है। कितना भी बीमार पड़नेपर दवा, केप्सूल, गोलियाँ, इंजेक्शन मरते दमतक न लें। आप कहेंगे जीवन-रक्षा, आत्मरक्षाके लिये कुछ भी पाप नहीं है, जीनेके लिये दवा खाना, अपने शरीरमें दूसरेका रक्त डालना (Blood Transfusion) आवश्यक है, दवा या ऐसे वैज्ञानिक साधनोंके बिना मनुष्य मर जायगा।

यह निरी भ्रान्ति है, गलत विचार है। कोई भी व्यक्ति, महामूर्ख भी, अपना वमन किया हुआ भोजन, अपना ही मल-मूत्र नहीं खा-पी सकता, अपना ही रक्त नहीं पीता, दूसरे पशुओंके रस, रक्त-पीव, मल-मूत्र नहीं खा-पी सकता, उसे घृणा होगी; परंतु वैज्ञानिक मिश्रणसे इन्हें मुँहसे तथा चर्मरक्तद्वारा अपने शरीरमें, अपना रोग-नाशके लिये प्रविष्ट कराता है—यह उसकी वैज्ञानिक बुद्धिके लिये कितनी घृणित और शर्मकी बात है। इसकी अपेक्षा तो अपना ही रस, रक्त, मल, मूत्र खाओ-पियो तो कहीं श्रेष्ठ है।

चौरासी लाख प्रकारके प्राणियोंमें मानवके अतिरिक्त किसीको वैज्ञानिक बुद्धि नहीं है। उनको इतना रोगी होते नहीं देखा गया। वे वैज्ञानिक दवाइयाँ, अन्य प्राणियोंके रक्त-रस आदिसे बने घृणित पदार्थ नहीं खाते। फिर ऐसा करनेमें मनुष्यकी कौन-सी श्रेष्ठता है और उसने अबतक अपनेको श्रेष्ठ मानकर क्या पाया है ? जैसे सब प्राणियोंका शरीर संयम और आत्मशुद्धिसे स्वस्थ रहता है, उसी नियमसे मानव-शरीरकी भी रचना है। इसे किसी अन्य डॉक्टर या साधनकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं अपनी चिकित्सा, नवनिर्माण और विषाक्त तत्त्वोंसे अपनी रक्षाके लिये जन्मसे ही समर्थ बनाया गया है। दवाके बिना वह मरेगा नहीं, वरं दवाके बिना उसे स्वस्थ होनेमें अपनी शक्तिका प्रमाण देनेका अवसर मिलेगा।

लात मार दी

हमारे भारतमें ऐसे घातक खाद्य पानी, दवा, व्यसन और सौन्दर्य-प्रसाधनोंके निर्माता साहित्यकारों, चित्रकारोंसे आकर्षक कहानी चित्र प्रतिस्पर्धाका विज्ञापनकर उन्हें भारी पुरस्कार देते हैं, अधिकारी डॉक्टरोंको किसी प्रकार प्रसन्न कर अपने पेटेंटपर उनका प्रमाणपत्र प्राप्त करते हैं, जनताके गुमनाम कल्पित हस्ताक्षरसे उन वस्तुओंसे लाभान्वित आपबीती कहानी छापते हैं—विज्ञापनके ये बड़े हथियार जनताको बेवकूफ बनानेमें सफल होते हैं। भारतके औषध-निर्माण तथा प्रचार क्षेत्रमें यह पाप आगकी तरह बढ़ रहा है।

फलोंमें विटामिन होता है, प्राकृतिक भोजन है, यह बात समझानेके लिये केलिफोर्निया (अमेरिका) का एक शराब-निर्माता एक विख्यात प्रमाणित डॉक्टरके पास पहुँचा कि फल अधिक कालतक नहीं टिक पाते, दूर भेजनेमें खराब हो जाते, सड़-गल जाते हैं। अतः फलोंके गुणसे टिकाऊ लाभ लेनेके लिये उनका रस हम निकालकर शराब बनाते हैं। आप इस तथ्यको लेकर एक छोटी-सी पुस्तिका लिख दें, प्रचार होगा, इसके लिये मैं एक लाख डालर (पाँच लाख रुपये) आपको दूँगा।

डॉक्टर बोले—फल खानेमें दुर्गुण नहीं है; लेकिन शराबसे नैतिक, सामाजिक, आर्थिक हानि कितनी होती है, आप स्वयं आँखोंसे देखते हैं। ऐसी पुस्तक मैं लिखूँ तो लोगोंको मेरे शब्दोंसे प्रोत्साहन मिलेगा। ऐसा करना समाज-द्रोह, मानवद्रोह और देशद्रोह है, देशका पतन होगा। मैं ऐसी पुस्तक लिखकर अपने देश-भाइयोंको धोखा नहीं देना चाहता। देशका पतन नहीं होने दूँगा। मैं सब-कुछ जानकर भी एक लाख रुपये पानेके लिये ऐसी पुस्तक लिखूँ तो यह अपनेको स्वयं धोखा देना है। मैं न तो पुस्तक लिखूँगा, न रुपये लूँगा। मैं इतना नीच, जघन्य नहीं हूँ।'

इतना सब पढ़-जानकर आपमें मानवता, आत्मीयता कुछ जाग्रत् हुई ? दुनियाको सुधारनेकी ठेकेदारी मेरी या आपकी नहीं है। दूसरेको कोई जबरदस्ती न तो कुछ दे सकता है, न सुधार सकता है। किंतु दुनियामें नित्य होनेवाले इस वैज्ञानिक सभ्यताके अंधेरको जानकर इससे प्रत्येक व्यक्तिको सावधान हो जाना चाहिये। आप भले तो जग भला। व्यक्ति-मात्रके स्वयं सुधरनेसे समाज, देश और दुनियाका सुधार अपने-आप होता है।

अपनी आत्मा बेचनेवाले भारतीय साहित्यकार, कलाकार और विज्ञापकोंको इस उदाहरणसे सीखना चाहिये।

Save yourself from abetting the Social Crime and save the society from your selfish sly art. Thus keep away from the skills of misnomer science.

संत-महात्माओंकी दृष्टिमें संसार

(लेखक–पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस संसारको 'अनित्य, सुखहीन[1] तथा दुःखालय और अशाश्वत[2]' कहा है। भागवतकारने इसका नाम 'दुःखग्राम' (१ । ३ । २९) रखा है।[3] गोस्वामी तुलसीदासजी इसे अविचारित तथा आपातरमणीय बतलाते हैं, वस्तुतः वे इसके वास्तविक स्वरूपको अत्यन्त भयंकर बतलाते हैं—

अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी[4]।

वेदान्तियोंकी दृष्टिसे यह प्रतिक्षण परिवर्तमान तथा निस्सार है—

देखत ही कमनीय, कछू नाहिन पुनि किएँ बिचार।
(विनय० १८८)

विशेषकर इसका आकर्षक स्वरूप नितान्त निस्सार तथा क्षणिक है—

ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसत सार।

राजतरङ्गिणीकारकी दृष्टिमें संसारमें निरवच्छिन्न क्लेश तो है, किंतु विशुद्ध, दुःखासंस्पृष्ट, निरवच्छिन्न सुख नहीं है—

दुःखं सुखेन पृथगेवमनन्तदुःख-
पीडानुवेधविधुरा न सुखस्य वृत्तिः।
(६ । ७-८)

सांख्यदर्शनकी दृष्टिमें भी सांसारिक सुख दुःख-शबल होनेके कारण दुःखमें ही परिगणित होने योग्य हैं—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः। (६ । ७-८)

योगदर्शनके अनुसार भी परिणाम आदिपर विचार करनेसे संसारके सुख भी भयानक उपद्रव तथा दुःख-कारक ही हैं—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (२ । १५)

अर्थात् दुःख तो दुःख हैं ही, सुख भी परिणाममें दुःखयोनि हैं। उनके वियोग होनेपर परिताप तथा हृदयपर संस्कार जम जानेसे बादमें याद पड़कर गृह, मित्र, जाया आदि शोकके कारण होते हैं। यही उनका परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख आदि है। भर्तृहरिकी दृष्टिमें यह संसार विभ्रमय है। एक अन्य कवि भी यही कहता है—

दुःखाङ्गारकतीव्रः संसारोऽयं महानसो गहनः।
इह विषयामृतलालस मानसमार्जार मा निपत।

सूरदासजी भी इस संसारको विषयरूपी विषका सागर बतलाते हैं—

यह संसार बिषय बिष सागर रहत सदा सब घेरे।
(सूरविनयपत्रिका, गीताप्रेस, ९१)

कबीरदास कहते हैं—

---

१. अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्। (९ । ३४)

२. ···दुःखालयमशाश्वतम्। नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ (८ । १५)

३. जन्म गुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतो नरः। सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते॥

इस श्लोकके 'दुःखग्राम' पदका श्रीधरस्वामी तथा प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'संसार' ही अर्थ किया है।

४. किसी अन्य कविने भी कहा है—

अयमविचारितचारुतया संसारो भाति रमणीयः।
अत्र पुनः परमार्थदृशा न किमपि सारमणीयः॥

५. विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते।
जन्मान्तरघ्ना विषया एकदेहहरं विषम्॥
(योगवाशिष्ठ १ । २९ । १३)

विषयोंकी तीक्ष्णता ही विष है, विष उसके सामने कुछ नहीं। विष एक ही देहका नाश करता है, विषयोंका प्रभाव तो जन्मान्तरके शरीरोंको भी नष्ट करता चला जाता है

यह संसार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है ।
यह संसार काँटकी बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है ॥
यह संसार झाड़ और झाँखड़, आग लगे जरि जाना है ।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है ॥

(भजनसंग्रह, भाग १, गीताप्रेस, २१७)

गोरखनाथजीकी वाणी है—

नाथ कहै तुम आपा राखो, हठ करि बाद न करणा ।
यह जग है काँटेकी बाड़ी, देख देख पग धरणा ॥

श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने महात्मा जडभरतके द्वारा विस्तारपूर्वक भवाटवीका वर्णन कराया है । उसकी तीक्ष्णता तथा भयानकता पञ्चम स्कन्धके १३ वें, १४ वें अध्यायमें देखनी चाहिये । उसे लिखनेसे यहाँ बहुत विस्तार हो जायगा ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु, भाई रे ।
नाहिं त परिबो भव बेगारि महँ, छूटत अति कठिनाई रे ॥

मैं तोहि अब जान्यौ संसार

—इत्यादि विनयपत्रिकाके भजनोंमें संसारकी भयानकता दिखलायी है । तथापि भारतवर्षमें मानव-शरीर ग्रहणकर संसृतिग्रस्त प्राणी भी भगवद्भजनके सहारे अपना श्रेय सम्पादन कर सकता है । सभी प्रलोभनोंसे बचकर नित्य-निरन्तर भगवत्स्मरण तथा स्वधर्मानुष्ठान करनेवाला प्राणी देवताओंसे भी श्रेष्ठ गतिको प्राप्त कर सकता है, किंतु यहाँ भगवत्स्मरणसे रिक्त समयका यापन तथा स्वधर्म-विरोधी कर्तव्योंका अनुष्ठान अवश्य भारी चिन्ताकी बात है । इस भयंकर विपत्तिकी स्थिति तथा अत्यन्त क्षणिक किंतु दुर्लभ मानव-शरीरको पाकर भजन न करना ही सबसे बड़ी हानि है—

हानि कि जग एहि सम कछु भाई ।
भजिअ न रामहि नर तनु पाई ॥

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि ।
अभाग्यं परमं चैतद् वासुदेवं न यत् स्मरेत् ॥
यन्मुहूर्तं क्षणं वापि केशवं नैव चिन्तयेत् ।
सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिस्सैव विक्रिया ॥

(स्कन्द० काशीखण्ड; गरुड़पुराण, पूर्वखण्ड)

इस तीक्ष्ण विषाग्निमय दंदह्यमान संसाररूपी कड़ाहमें भी भगवत्स्मृति दिव्य सुधा है । इसका तात्त्विक स्वाद मिल जानेपर तो परम कल्याण सुलभ ही है । पर जबतक विषयरूपी विषकी मिथ्या माधुरी दूर नहीं हुई, तबतक इसका वास्तविक स्वाद अज्ञात ही समझना चाहिये ।

तुलसी जब लगि विषय की सुधा माधुरी मीठि ।
तौलौं सुधा सहस्र सम राम भगति सुठि सीठि ॥

(दोहावली)

वस्तुतः सत्सङ्ग, भगवत्स्मृति, भगवच्चर्चा तथा स्वधर्मा-नुष्ठानमात्र ही इस संसारमें सार पदार्थ हैं—

विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम् ॥

(वामनपुराण ९४ । १९)

असारे खलु संसारे सारमेतत्त्रयं स्मृतम् ।
काश्यां वासः सतां सेवा मुरारेः स्मरणं तथा ॥
विष्णुरेकादशी गङ्गा तुलसी विप्रधेनवः ।
असारे दुर्गसंसारे षट्पदी मुक्तिदायिनी ॥
तुलसी ब्राह्मणा गावो विष्णुरेकादशी खग ।
पञ्चप्रवाहणान्येव भवाब्धौ मज्जतां सताम् ॥
दानं सत्यं दयां चेति सारमेतज्जगत्त्रये ।

(गरुड० उत्तर० १९ । २२-२३; २८ । ३७)

महाराष्ट्रकी मीराँ संत जनाबाई

(लेखक—डा० श्रीकृष्णलालजी हंस, एम्० ए० पी-एच्० डी०)

हिंदीके संत-साहित्यमें जो स्थान मीराँबाईको प्राप्त है, वही स्थान मराठीके संत-साहित्यमें जनाबाईको प्राप्त है। दोनोंकी भक्ति-प्रणाली भी लगभग एक-सी ही है। जनाबाईके विठ्ठल अथवा पाण्डुरङ्ग ही मीराँबाईके गिरधर गोपाल हैं। जनाबाईका आविर्भाव-काल मीराँबाईसे लगभग दो शताब्दी पूर्व हुआ था।

जनाबाईका स्थान महाराष्ट्रकी संत कवियित्रियोंमें सर्वोच्च है। उसकी भक्ति-भावना ही नहीं, काव्य-वैभव भी अपूर्व है। उसके काव्यमें कल्पनाकी उड़ान और भाषाकी प्रगल्भता नहीं है। भाषाकी सरलता तथा भोले और प्रेमार्द्र हृदयकी भक्ति-विह्वलता ही उसके काव्यकी वे विशेषताएँ हैं, जिन्होंने उसे मराठीके संत-साहित्यमें सदाके लिये अमर बना दिया है। उसके द्वारा रचित अभङ्ग आज लगभग छः सौ वर्षके पश्चात् भी मराठीभाषियोंकी वाणीपर तरङ्गित दिखायी देते हैं।

गोदावरीके पुनीत तटपर गंगाखेड़नामक एक छोटा-सा ग्राम है। वहीं इस भक्तिमती देवीका जन्म एक शूद्र परिवारमें हुआ था। इसके माता-पिता विठ्ठलभगवान्‌के परम भक्त थे। वे प्रतिवर्ष पंढरपुरकी यात्रा करते थे। भक्त माता-पिताकी संतानके हृदयमें भक्तिका बीज उर्ज्वसित होना स्वाभाविक ही था। जनाबाई जब केवल पाँच वर्षकी ही थीं, अपने माता-पिताके साथ पंढरपुरकी यात्राको गयीं। वह वहाँ विठ्ठलभगवान्‌की मूर्तिके दर्शन करते ही मुग्ध हो गयी। उसके माता-पिताने उसे बहुत समझाया, किंतु वह मन्दिरसे हटनेको सहमत न हुई। यह देखकर उसके पिता दामा तथा माता करुंडने उसे नामदेवके पिता दामा सेठको सौंप दिया। वह नामदेवके परिवारकी एक सदस्या बन गयी। उससे जब कोई यह पूछता कि वह किसकी लड़की है, वह उत्तरमें यही कहती कि वह नामदेवकी दासी है। अपने अभङ्गोंमें भी उसने 'दासी जनी' शब्दका ही प्रयोग किया है। इस परिवारमें रहते हुए उसकी भगवद्भक्ति और भी विकसित हो गयी। नामदेवकी सेवा करना और उनके साथ भगवद्भक्तिमें तल्लीन रहना ही उसके जीवनके कार्य थे। कहते हैं, स्वयं नारदजीसे उसने दीक्षा ग्रहण की थी। उसने स्वयं नामदेवके सत्सङ्गसे भक्तिका प्रसाद प्राप्त होना स्वीकार किया है।[1]

ऐसा जान पड़ता है कि जनाबाई आजन्म अविवाहित ही रही और हरि-स्मरणमें ही उसने अपना जीवन बिता दिया। वह निष्कामकर्मयोगिनी थी। उसकी भगवद्भक्ति किसी कामनासे न थी, वह केवल भगवान्‌के सांनिध्यकी आकाङ्क्षिणी थी। वह केवल यही चाहती थी कि उसे सर्वत्र और सर्वकाल उसके परम प्रियतम आराध्यके दर्शन होते रहें—

हेंचि देईं हृषीकेशी। तुझें नाम अहर्निशी।
रूप न्याटाळीन डाळा। पुडें नाचेन वेळोवेळा।
सर्वांठायीं तुज पाहें। ऐसें देऊनि करीं साहे।
धावां करितां रात्र झाली। दासी जनीसि भेटी दिली।

वह कहती है—'हे हृषीकेश! मुझे यही वरदान दे कि मैं रात्रि-दिवस तेरा नाम लेती रहूँ। मेरे नेत्रोंके सामने तेरा रूप नाचता रहे। मैं सर्वत्र तुझे देखती रहूँ। तू मुझे इस प्रकारका वरदान देकर मेरी सहायता कर। जब मुझे दौड़ते-दौड़ते रात्रि हो गयी, तब भगवान्‌ने मुझे दर्शन दिये।' अब वह आराध्यमय हो गयी। उसे प्रत्येक वस्तु आराध्यस्वरूप दिखायी दे

---

१. जनी म्हणे जोड़ झाली विठोबाची।
दासी नामयाचि म्हणोनिया॥

लगी। वह भगवान्में तन्मय होकर कहती है—'मैं देव खाती, देव पीती और देवपर ही सोती हूँ। मैं देव देती, देव ही लेती और देवके साथ ही व्यवहार करती हूँ। यहाँ-वहाँ सर्वत्र देव ही है। कोई भी स्थान देव-से शून्य नहीं है। मेरा अन्तर और बाह्य देवसे ही पूर्ण है।'[1]

कितनी महान् भाग्यशालिनी है वह! उसे अपने प्रियतम आराध्यके बिना चैन नहीं, उधर उसके आराध्यको भी उसके बिना चैन नहीं है। वह सदैव उसीके आगे-पीछे डोलता रहता है। वह उससे एक क्षणको भी विलग नहीं होता। वह जहाँ जाती, वहीं वह उसके साथ चला जाता और उसकी उसके प्रत्येक कार्यमें सहायता करता है। 'वह पानी भरने जाती, उसका आराध्य उसके साथ वहीं चला जाता और अपने हाथसे उसकी गागर भरने लगता है।[2] वह जंगलमें कंडे बीनने जाती है, उसका आराध्य पीताम्बर पहिने उसके साथ कंडे बीनता दिखायी देता है।[3] वह धान कूटना आरम्भ करती है, उसका प्रियतम उसके हाथसे मूसल लेकर स्वयं कूटने लगता है। कूटते-कूटते उसके हाथमें छाले पड़ जाते हैं, पर वह मूसल नहीं छोड़ता।[4] अत्यधिक कार्यव्यस्तताके कारण जनी अधिक दिनोंतक अपना सिर नहीं धो पाती, वह स्वयं उसकी वेणी अपने हाथमें लेकर माताकी तरह सँवारने लगता है।[5] धन्य है उसकी भगवद्भक्ति!

वह रात्रिके तीसरे प्रहरमें उठकर चक्कीसे अनाज पीसती और सुरीले कण्ठसे गीत गाती जाती है। उसके स्वरके साथ किसी दूसरेका भी गीत-स्वर सुनायी देता है। नामदेवकी माता गोणाईको उसके साथ किसी अन्य पुरुषके होनेका संदेह होता है और वह करछुल लेकर उसे मारने जाती है। वह वहाँ देखती है कि उसके साथ कोई पुरुष नहीं, पर दूसरी एक स्त्री पीसती हुई गीत गा रही है और वह अपना नाम 'बिठाबाई' बतलाती है। गोणाईके आश्चर्यका ठिकाना नहीं रहता, वह लज्जित होकर लौट आती है। नामदेव समझ लेते हैं, यह बिठाबाई और कोई नहीं, पर उसका परम प्रियतम आराध्य 'विट्ठल' ही है, जो कभी पुरुषवेशमें और कभी स्त्रीवेशमें सदैव अपनी अनन्य भक्ता जनाबाई-के साथ बना रहता है।[6]

जनाबाईकी अनन्य भक्तिके कारण उसे सदैव अपने आराध्यका मधुर मिलाप प्राप्त था। वह प्रत्येक कार्य ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करती और अपने उन कार्योंमें अपने आराध्यका ही योग अनुभव करती थी। इस प्रकार उसे तादात्म्य स्थिति प्राप्त थी। उसे यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि उसके सब काम ईश्वर ही करता है। वह इसी मधुर भावनासे अपने सब कार्य करती थी। उसकी इस भावनासे उसकी सब क्रियाएँ पुनीत हो गयी थीं और वह अपने हृदयमें नित्य नूतन बल-संचारका अनुभव करती थी। इससे उसका जीवन अत्यन्त पवित्र और आह्लाददायक बन गया था। उसके अनेक अभङ्गोंसे ऐसा जान पड़ता है कि उसकी

---

१. देव खातें देव पितें। देवावरी मी निजतें॥
देव देतें देवा घेतें। देवासवें व्यवहारितें॥
देव येथें देव तेथें। देवा वीण नाहीं रितें॥
जनी म्हणे विठाबाई। भरुनि उरली अन्तर्बाहीं॥

२. पाणी आणावया गेली। तिच्या मागें धांव झाली॥
घागर घेऊनी हातांत। पाणी ओती रांजणांत॥

३. शेणी वेंचू गेलें राना। पाठीमोरा उभा कान्हा॥
× × ×
पितांबराची घाली कास। शेणी वेंची सावकाश॥

४. हातां आले फोड़। जनी म्हणे मुसळ सोड़॥

५. आपुले हातीं वेणी घाली। जनी म्हणे माय झाली॥

६. एकलीच गाणें गात। दुजा साद उमरत॥
कोण गे तुझे बरोबरी। गाणें गातो तुझे धरी॥
खूण कळली नामदेवा। विट्ठल जनींचिया भावा॥

अपने आराध्यके प्रति मातृत्वकी भावना भी कम न थी। वह उसे किंचित् भी अपनी दृष्टिसे ओझल देखती तो वह उसी प्रकार उसके लिये बिलखने लगती, जिस प्रकार शिशु अपनी माताके लिये बिलखने लगता है। शिशुको बिलखते देख जैसे माता अपना सब कार्य छोड़ उसके पास दौड़ी आती है, इसी प्रकार उसका आराध्य भी उसका क्रन्दन सुन दौड़ पड़ता है। वह कहती है—'मैं तेरे बिना कैसे जीवित रहूँ, अपने प्राणोंको जानेसे कैसे रोकूँ। मेरे प्राण निकलना ही चाहते हैं, मेरी माता! शीघ्र ही दौड़कर आ। हे माता! मैं तुझसे प्रार्थना कर रही हूँ, तू आकर मुझे दर्शन दे'[1]। वह एक दूसरे अभङ्गमें अपने उद्धारकी प्रार्थना करती हुई कहती है—'हे विट्ठल! क्या तू न आयेगा? मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया है? तू ही मेरा माता-पिता और स्वामी है, मेरी सुध ले और मेरा उद्धार कर। तूने अनेक बड़े-बड़े पापियोंका उद्धार किया है। मेरे-जैसी पापिनीका उद्धार करना तेरे लिये कौन कठिन है। हे दीनानाथ! हे दीनबन्धु! हे कृपासिन्धु! मेरा भी उद्धार कर।'[2] कितनी विह्वलता और प्रेमार्द्रता है जनाबाईकी वाणीमें।

जनाबाईके कुछ अभङ्गोंमें दार्शनिक भावनाएँ भी बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त हुई हैं। वह एक अभङ्गमें कहती है—'मैंने पंढरपुरके चोरको उसके गलेमें रस्सी बाँधकर पकड़ लिया है। मैंने अपने हृदयको वन्दीगृह बनाकर उसमें उसे बंद कर दिया है। मैंने शब्दोंको जोड़कर बेड़ी तैयार की और वह बेड़ी विट्ठलके पैरोंमें डाल दी है। इसके पश्चात् जब मैंने उसे 'सोऽहं' शब्दकी चाबुकसे मार लगाना शुरू किया, तब वह कायल हो गया। मैंने उससे कहा कि 'हे विट्ठल! अब मैं तुझे इस जीवनमें कभी भी अपने हृदयके बन्दीगृहसे मुक्त न करूँगी।'[3] जनाबाईके इस रूपकमें जो उसके हृदयका सौन्दर्य परिलक्षित है, वह काव्यके महान् सौन्दर्यसे किसी प्रकार भी कम मूल्यवान् नहीं है। यदि भगवान् अपने ऐसे भक्तके लिये धान कूटने, अनाज पीसने, कपड़े धोने, पानी लाने और कंडे बीननेका कार्य करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।[4]

जब भक्त अपने भगवान्में पूर्ण तन्मय हो जाता है, उसके विरहमें क्रन्दन करने लगता है, उसके मिलनका अनुभव करके नृत्य करने लगता और निशि-वासर उसके ध्यानमें आत्मविस्मृत बना रहता है, तब भगवान् सर्वथा उसके वशमें हो जाते हैं और उसके संकेतोंपर दौड़े-दौड़े फिरते हैं। वह भक्त धन्य है, जिसके संकेतपर, अपने संकेतपर समस्त विश्वका संचालन करनेवाला स्वयं चलनेको विवश होता है। जनाबाई महाराष्ट्रकी एक ऐसी ही भक्तप्रवरा थी। वह अपढ़ थी, असंस्कृत थी, शूद्रकन्या थी; किंतु उसकी अनन्य भक्तिने उसे संतोंके लिये भी वन्दनीय बना दिया।

अन्य भगवद्भक्तोंकी तरह जनाबाईके जीवनसे सम्बन्धित भी अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ सुनी जाती हैं। उसमेंसे एक घटना इस प्रकार है। एक दिन

---

१. तुजविण काय करूँ। प्राण किती कंठीं धरूँ॥
आतां जीव जाऊँ पाहे। धांव घालीं माझे माये॥
माझी भेटेना जननी। संता विनवी दासी जनी॥

२. कां ग न येसी विठ्ठला। ऐसा कोण दोष मला॥
मायबाप तूंचि धणी। मला सांभाळी निर्वाणी॥
त्वां बा उद्धरिले थोर। तेथें कोण मी पामर॥
दीननाथा दीनवंधू। जनी म्हणे कृपासिंधू॥

३. धरिला पंढरिचा चोर। गळा बांधोनिया दोर॥
हृदय वंदीशाळा केले। आंत विठ्ठला कोंडिलें॥
शब्दें केली जुड़ा-जुड़ी। विठ्ठलपायीं घातली बेड़ी॥
सोहं शब्दांचा मार केला। विठ्ठल काकुळती आला॥
जनी म्हणे बा विठ्ठला। जीवें न सोडी मी तुला॥

४. दळण कांडण धुणें धोवुनी पाटी डोईवरी।
गवऱ्या वेंचुन आणी घरी॥

रात्रिके तृतीय प्रहरमें विट्ठलभगवान् जनाबाईके साथ पीसने बैठ गये और उसके स्वरमें स्वर मिलाकर गाने लगे। गीतोंकी तल्लीनतामें उन्हें समयका ध्यान न रहा। प्रातःकालकी आरतीका समय हो गया, किंतु मन्दिरमें भगवान् नहीं हैं; यह स्मरण आते ही जनाबाईने तुरंत ही विट्ठलभगवान्‌को मन्दिरमें भेज दिया। शीघ्रतामें जनाबाईका कम्बल उनके साथ चला गया। मन्दिरमें भगवान्‌को कम्बल ओढ़े देखकर ब्राह्मणोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। पता लगानेसे विदित हुआ कि वह कम्बल जनाबाईका है; फिर क्या था, उनके क्रोधकी सीमा न रही। उन्होंने सोचा, 'जनाबाईने भगवान्‌का स्वर्णपदक चुरा लिया है और यह चोरी छिपानेके लिये उसने अपना कम्बल उन्हें ओढ़ा दिया है।' उन्होंने जनाबाईके लिये प्राणदण्ड घोषित कर दिया। वह शूलीपर चढ़ानेके लिये वध-स्थलमें लायी गयी। उसने मृत्युके पूर्व जैसे ही अपने आराध्यका स्मरण करते हुए शूलीकी ओर देखा, शूली जलके रूपमें परिवर्तित हो गयी। उपस्थित जनसमूह यह चमत्कार देखकर स्तम्भित हो गया और जनाबाईकी भगवद्भक्तिकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करने लगा।

जनाबाईका साहित्य

इस अपठित संत गायिकाद्वारा रचित लगभग तीन सौ अभङ्ग अवश्य उपलब्ध हैं। अध्यात्म, भगवद्भक्ति, हरिनाम-महिमा, नामदेव-प्रशंसा, पौराणिक आख्यानादि इसके अभङ्गोंके प्रमुख विषय हैं। स्त्री-सुलभ विनीत और कोमल भावना, आर्तहृदयाभिव्यञ्जना, भक्तहृदयकी विह्वलता एवं अपने आराध्यके प्रति व्यक्त की गयी अनन्यता इसके काव्यकी विशेषताएँ हैं। कुछ अभङ्ग प्रसङ्गानुसार पहले दिये जा चुके हैं। उसके एक वात्सल्य-रस-पूर्ण अभङ्गका भावार्थ इस प्रकार है—'वैकुण्ठमें निवास करनेवाला हरि यशोदाके घरके आँगनमें रेंग रहा है। उसके सिरपर जवालकी वेणी है। पैरोंमें पैजनी और कड़े तथा हाथमें मक्खनका लौंदा है। माता यशोदा! तू धन्य है। यह दासी जनी तेरे चरणोंकी वन्दना करती है।'[1]

भगवान् जनाबाईके घर आते हैं। वह उनका सम्मान करनेमें अपनेको असमर्थ पाती है। वह कहती है—'भगवन्! मैं तेरा स्वागत कैसे करूँ? तू तो वैकुण्ठके रत्न-सिंहासनपर आसीन रहनेवाला है। मेरे घर तो एक कुरूप खुरदरा आसन है, जिसपर मैंने एक फटा कपड़ा बिछा रखा है। तू विश्वम्भर है, मैं तेरा सम्मान कैसे करूँ? एक टूटी हुई खाट है, जिसपर एक गुदड़ी बिछी हुई है। तेरे समान सुकुमार-को उसपर निद्रा कैसे आयेगी? तू मेरे घरके फूटे तूँबेमें जल कैसे पीयेगा? रुक्मिणी सुस्वादु व्यञ्जनोंसे थाली सजाकर तेरी प्रतीक्षा कर रही हैं। हे विट्ठल! क्या तू मेरे घरके रूखे-सूखे बासी स्वादहीन टुकड़े खा सकेगा?'[2] उसकी विवशता कितनी हृदयस्पर्शिनी है! जनाबाईके सभी अभङ्गोंमें उसके हृदयकी सरलता और उसके हृदयमें प्रवाहित होनेवाले प्रेमका विमल स्रोत देखा जा सकता है। साहित्य-सौन्दर्यकी दृष्टिसे उसका साहित्य भले ही उच्चकोटिका न हो, किंतु

१. वैकुंठीया　हरी। ताना यशोदेचा घरी॥
रांगत से हा अंग णी। माथां जावळाची वेणी॥
पायीं पैंजण आणि वाळे। हातीं नवनीताचे गोळे॥
धन्य यशोदा माय। दासी जनी वंदी पाय॥

२. खडतरले आसन त्यावर झडतरले वसन।
तुज कैंचे रत्नसिंहासन रे विठोबा॥
काय करूँ उपचार भक्तिभावाचा लाचार।
तो तूं विश्वी विश्वम्भर सर्वसाक्षी रे विठोबा॥
मोडकीसी बाज त्यावर वाकळाची सेज।
तुज सुकुमारासी नीज कैसी येईल रे विठोबा॥
फुटकासा तुंबा कैसा उदक पिशी बा।
ताट वाढुनि रुक्मिणि रंभावाट पाहे रे विठोबा॥
वाळले चिळले कुटकें शिळे आणि तुटके।
मज दासी जनी घरीचे विटके खासी रे विठोबा॥

भक्ति-साहित्यकी दृष्टिसे वह अत्युच्च कोटिका अवश्य है। उसकी इसी श्रेष्ठताने उसे मराठीभाषियोंका कण्ठहार बना दिया है। उसके काव्यका गान करते हुए कोई भी आत्मविभोर हो सकता है। जनाबाईके कृष्णजन्म, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद-चरित्र, द्रौपदी-चीरहरण आदिसे सम्बन्धित अभङ्ग भी प्राप्त हैं।

दिव्यलोक-प्रयाण

महाराष्ट्रकी इस भक्तप्रवरा भगवद्गुणगायिकाका देह-त्याग आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, सं० १३५० वि० को हुआ था। उसने समाधिस्थ होनेके पूर्व एक अभङ्गमें कहा है कि 'मेरे मनमें जो-जो था, वह हरिकृपासे मुझे प्राप्त हो गया है।'[1] जनाबाईके समान अनन्य भगवद्भक्ति-परायणकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण होना आश्चर्यजनक नहीं है। जिसकी अटल और निष्काम भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने साकारस्वरूपमें अहर्निश उसके साथ रहनेमें आनन्दानुभव किया, उसके लिये उसे क्या अदेय हो सकता था।

विशुद्ध मानव 'श्रीभरत'

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दप्रसादजी मिश्र)

रामानुज लक्ष्मण ससैन्य भरतको आते देख मानवताके संहारके तीर-तरकश सम्हाल धनुष टंकारकर खड़े हो गये यह कहकर—

कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी। जानि राम बनबास एकाकी॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि द्वौ भाई॥

राज्यमदसे बौराकर चढ़कर भरत आज आ गये हैं, अब मन नहीं मारा जाता।

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारउँ रन राम दोहाई॥

भरतको मारकर तब जल पीऊँगा। आकाशवाणी हुई—

सहसा करि पाछें पछिताहीं।

भगवान् रामचन्द्रजीने लक्ष्मणसे कहा—भरत मुझे मनाने और अयोध्याका राज्य सौंपने आये हैं; तुम यदि राज्य चाहते हो तो भरतसे तुम्हें दिला दूँगा; परंतु—

सुनहु लषन भल भरत सरीसा।
बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

भरत मानवताको बटोरकर उसके रक्षणके लिये सैन्य लेकर आये हैं। विधि-प्रपञ्चमें ऐसा मानव न जन्म लेकर कभी आया था न आया है—

भरत हंस रबि बंस तड़ागा।

रविवंशमें स्वार्थी देवताओंके आग्रहपर शारदाके माध्यमसे मन्थरा और कैकेयीको आड़ बनाकर दानवी विकराल रूप अवतरितकर मानवताका ह्रास करनेको जाग उठी थी—जिस मानवीने शम्बरासुरके युद्धमें अपने स्नेह और पातिव्रतसे एक मानवके भाग्यसिन्दूरको सुरक्षित रखा था, वह कुसङ्गसे विकराल स्वरूप ले विकृत वात्सल्य तथा पुत्र-स्नेहको लेकर भ्रमित, भटकी हुई दशरथको चाट गयी। शील और संकोचके सागर, कोमलचित्त राम-से पुत्रको निर्वासित करा राजतिलकको मृत्यु-उत्सवमें परिणत कर बैठी—किसीकी सीखको नहीं मानी—सीता और लक्ष्मणको लेकर वनको वे चल दिये। सारी अयोध्याको श्मशान बना दिया, परिजन भूत बन गये। मानव रामके पीछे-पीछे दौड़ पड़े। उस बिखरी और शोक-दग्ध मानवताको बटोरकर भरत-सा शुद्ध मानव ससैन्य चल दिया वनकी ओर।

विकृत वात्सल्यको मौन किया—स्थिर किया। कैकेयी-

---

[1] माझे मनीं जें जें होतें। तें तें दीधलें अनंतें॥

की मानवताका उल्लङ्घन किया । कौसल्याके संदेहका विषवृक्ष उखाड़ फेंका, वह शुद्ध मानव आ रहा है रामशरणमें—

निषादको भी भ्रम हुआ था कि वह मानवताका उपहास करने आ रहा है । जुझाऊ बाजे और ढोल बजवा दिये थे, पर वस्तुस्थिति जानकर बंद करने पड़े ।

भरद्वाजजीको भी भ्रम हो गया था, उन्होंने भी वस्तुस्थिति जानकर कहा—

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु ।
सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु ॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू । धरें देह जनु राम सनेहू ॥

भरत मानवताके उत्खननके हेतु पयादे चलते हुए फल खाकर पिताका दिया राज्य छोड़कर रामको मनाने जा रहे थे—जाते हुए जहाँ रामका निवासस्थल मिलता, भरपेट आँसू बहाते । आँसू बहाते-बहाते विकल होकर मूर्च्छित हो जाते । रामजीके पद-अङ्क जहाँ पाते, लोट जाते, रुदन करते, निषाद उठाते—उठते और—

कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग ।
यहि दुख दाह दहइ नित छाती । भूख न बासर नीद न राती ॥

ऐसा विशुद्ध मानव मानवताकी खोजमें चित्रकूट जा रहा था । जाकर पुरुषोत्तम रामकी चरण-शरणमें लकुट इव गिर पड़ा ।

भगवान् रामसे विवाद किया । वशिष्ठसे हठ किया और विजयमें ली मानवताकी पाँवरी, लौटकर स्थापना की राज्य-सिंहासनपर अयोध्याकी मानवताकी पाँवरी !

छोड़ दिया ऐश्वर्य, भोग और सुख; बैठ गया नन्दिग्राममें—विशुद्ध मानवताकी धूनी रमाकर, गुफा खोदकर और जबतक पुरुषोत्तम न आये उत्खनन करता रहा—कराता रहा मानवताका फिर । संत बन जगत्को विशुद्ध संतके पदसे कृपाकी दीक्षा दी । पूर्वार्धमें विशुद्ध मानवता-सेवा धर्मके माध्यमसे की और उत्तरार्धमें विशुद्ध संत बन प्रभुका अनुगमन किया ।

प्रमाणपत्र मिला था मर्यादा-पुरुषोत्तमसे—

मिटिहैं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार ।
लोक सुजस परलोक सुख सुमिरत नाम तुम्हार ॥
भरत सरिस भल···बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ।

भरतजीने मानवताका दाह, दुःख, दम्भ, दारिद्र्य, दूषण सुयशके मिस अपहरण किया था ।

मैं भगवान्का अधिक-से-अधिक स्नेहपात्र बनता जा रहा हूँ

भगवान् ही समस्त जगत्के सारे प्राणियोंके रूपमें प्रकट हैं । यह रहस्य भगवान्की कृपासे मुझे मालूम हो गया है । अतएव अब मेरे लिये न तो कोई पराया रहा है न कोई दूसरा ही है । सभी मेरे पूज्य, मेरे आराध्य हैं । मैं सभीमें सदा अपने भगवान्को देखकर मन-ही-मन प्रणाम करता हूँ और भिन्न-भिन्न वेशभूषा तथा नाम-रूपवाले प्राणियोंमें भगवान्को पहचानकर अपनी वेशभूषाके अनुसार व्यवहार करता हुआ भी—उनकी पूजाके लिये ही सब व्यवहार करता हूँ । मैं अनुभव करता हूँ कि मेरी राग-द्वेष-रहित आदर तथा प्रीतिपूर्वक की हुई स्वकर्मरूप पूजासे मेरे भगवान् मुझपर बहुत प्रसन्न हो रहे हैं और मैं उनका अधिक-से-अधिक स्नेहपात्र बनता जा रहा हूँ ।

सह-शिक्षा

(लेखक—श्रीशेषनारायण चंदेले)

मानव-समाज विश्वका जीवनसूत्र है। अतः विश्वके संरक्षण-हेतु उसकी सुव्यवस्था एक अनिवार्य वस्तु बन जाती है। भारतीयोंने इस तत्त्वकी महत्ता प्रारम्भसे ही समझ ली थी। आर्य-ग्रन्थोंके अध्ययनसे भारतीयोंकी विचार-पद्धतिका हमें बोध होता है, जो आधुनिक ढंगसे सर्वथा पृथक् है। भारतीयोंने जीवनको जिस दृष्टिकोणसे देखा है, वह पाश्चात्त्य भावनाओंसे सर्वथा विपरीत है। आज हमारे देशमें विदेशी लहर दौड़ रही है, वर्तमान युग संघर्षोंमें व्यतीत हो रहा है—विचारोंके, भावनाओंके। उसके जीवनकी गतिविधिमें क्रान्तिका आगम है। परम्परागत रूढ़ियोंको झटकेमें तोड़ डालनेका उद्रेक है, तो प्राण-प्यारी संस्कृतिकी रक्षाका मोह भी है। विश्वके अन्यान्य देशोंमें विज्ञानकी भौतिक दृष्टिने आमूल परिवर्तन कर दिये हैं, किंतु भारतकी स्थिति अभीतक अर्जुनके मोहका अभिनय कर रही है। इसी संघर्षमें सह-शिक्षाका प्रश्न भी पश्चिमी हवाकी एक सर्दी है।

भारतीयोंने जीवनको सदैव एक गहरी मनोदृष्टि—अध्यात्मके अनोखे परदेपर देखा है। वहाँ विज्ञानकी पहुँच नहीं। अध्यात्मके धरातलपर जीवनका अद्भुत विश्लेषण हुआ है। तथा दीर्घ मन्थनोपरान्त उसका उद्देश्य निर्धारित किया है—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष! उक्त बातें विषयान्तर नहीं हैं। जबतक भारतीय और पाश्चात्त्य दृष्टिकोणोंका अन्तर समझमें न आये, सह-शिक्षाके विरुद्ध दी गयी हमारी दलीलें थोथी जान पड़ेंगी। अस्तु, भूख और प्यासकी तरह कामका वेग मानवमात्रके लिये स्वाभाविक है। किंतु उसपर यदि कोई नैतिक प्रतिबन्ध न हो तो समाज और मनुष्यके वैयक्तिक जीवनके लिये भी वह घातक सिद्ध होगा। सर्वत्र उच्छृङ्खलता और अनैतिकता फैल जायगी। इसीलिये उसपर धर्मकी अर्गला है। जीवनके मर्मज्ञोंने कभी भी 'अर्थ-लिप्सा' और 'काम-(भोग)-लिप्सा'को प्रोत्साहन नहीं दिया। धर्म अपने बन्धनोंद्वारा सदैव उसे विरक्तिके द्वारतक पहुँचानेका प्रयत्न करता है। विश्लेषण करनेपर ज्ञात होगा कि अर्थ और काम (भोग)-की लिप्सा ही विश्वके समस्त संघर्षोंका मूल है। अतः समाजमें सुव्यवस्थाके लिये उसपर कठोर नियन्त्रणकी आवश्यकता है, किंतु राज्यका शासन उसके नियन्त्रणके लिये पर्याप्त नहीं। इस कार्यके लिये धर्मकी नियुक्ति हुई है। वह मानव-हृदयमें सद्वृत्तियोंका बीजारोपण करता है, मनुष्यको नैतिक साहस प्रदान करता है। अर्थ और कामके उचित प्रयोगके लिये मनुष्य स्वयं अपनेको जिम्मेदार समझने लगता है। अर्थ और कामके अधिक-से-अधिक त्यागकी महत्ता यहीं समझमें आती है, जो मानव-समाजके लिये कल्याणकारिणी और व्यक्तिके सात्त्विक जीवनका उत्थान करनेवाली है। पाश्चात्त्य दृष्टिकोणमें धर्म एक आडम्बरमात्र है। आधुनिक सभ्यता त्यागको मूर्खता ठहराती है। आज भारत और विश्वकी जिसे हम उन्नति समझते हैं, उसका आधार भोग है तथा स्वार्थोंसे परिपूर्ण होनेके कारण वह संघर्षोंकी भूमिका है।

यहाँतक भोग-वृत्तियोंको अवाञ्छनीय सिद्ध किया—व्यक्ति और समाज दोनों दृष्टिसे। अब जब सह-शिक्षापर विचार-विमर्श किया जाता है, तब वह इसी भोग-वृत्तिकी पोषिका दीख पड़ती है। मनुष्यकी समस्त कामनाओंको उन्मुक्त रूपसे प्रवाहित होने देनेका सिद्धान्त भ्रमपूर्ण है। भारतीय दार्शनिक कामनाओंके अस्तित्वकालमें मनकी शान्ति कभी नहीं मानते; क्योंकि दुःख या अशान्तिकी उपलब्धि कामनाकी अपूर्णताका परिणाम

है। कामनाकी शान्तिके बिना मनकी शान्ति असम्भव है। यह कहना गलत होगा कि 'स्वाभाविक होनेके कारण कामनाओंको रोकना नहीं चाहिये।' क्योंकि कठिन होते हुए भी उनपर नियन्त्रण असम्भव नहीं है। यह भी कहना उचित नहीं जान पड़ता कि 'कामनाओंकी पूर्ति करते रहनेसे अन्तमें उससे विरक्ति हो जायगी।' क्योंकि विषयोंके संयोगसे इन्द्रियोंकी भोग-लिप्सा बढ़ती है तथा हर संयोगसे मस्तिष्कपर उसका अङ्कन—संस्कार गहरा बनता जाता है तथा संस्कार उसे उसी कर्मकी ओर प्रेरित करता है। बालक और बालिकाओं-के विशिष्ट उम्रमें साथ-साथ रहनेसे प्रतिक्षण मानसिक व्यभिचारका—कुवासनाओंका संस्कार गहरा होता रहता है। पाश्चात्त्य सभ्यताके झोंकोंमें आकर वे भले ही बाह्य-रूपसे भाई और बहिनके शिष्टाचारका पालन करते रहें, किंतु उनके मनमें रह-रहकर मानसिक व्यभिचार होता रहता है। अपने हृदयमें वे इस सत्यको अस्वीकार नहीं कर सकते। श्रवण, दर्शन और मननरूप क्रियाओंका गहरा प्रभाव मस्तिष्कपर पड़ता है। ऐसी स्थितिमें सह-शिक्षा कहाँतक उचित है, यह विचारणीय है।

ऊपर बताया गया कि युवक-युवतियोंके आपसमें मिलनेसे उनके अन्तर्मनपर बुरा असर पड़ता है। बहुतोंका कहना है कि 'युवक-युवतियोंको परस्पर न मिलने देना संकीर्णता है, इससे उनका मानसिक पतन होता है; क्योंकि कार्यरूपमें जो अभिलाषा पूरी नहीं होती, उसका सदैव चिन्तन होता रहता है और वह किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होती है।' किंतु सोचने-का यह ढंग उचित प्रतीत नहीं होता। यदि आपसी मिलनका न होना ही 'चिन्तन'का प्रधान कारण है तो उन्हें 'मिलने देनेसे' चिन्तन-क्रिया दूर हो जानी चाहिये; किंतु ऐसा नहीं होता। वास्तवमें उनके चिन्तनका या मनन-का प्रधान कारण है—'काम (भोग)-लिप्सा।' अतः इस काम (भोग)-लिप्सापर ही कठोर नियन्त्रण होना चाहिये। इसीलिये प्राचीन शिक्षा-प्रणालीमें सह-शिक्षाका अभाव होते हुए भी संयमका बहुत बड़ा स्थान था। प्राचीन कालकी शिक्षा-प्रणाली अपना अनोखा आदर्श उपस्थित करती है। तत्कालीन विद्यार्थी नगरोंसे दूर रहकर प्रकृतिकी रम्य क्रीडाओंमें जीवनका निर्माण और विद्याकी प्राप्ति करता था। वह ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंके पालनसे तेजोमय और विद्या-बुद्धिका भंडार बनता था। इसके विपरीत आधुनिक छात्रोंकी दुर्दशापर किस विचारशीलका हृदय द्रवित न हो उठेगा? इस दुर्दशाका कारण उनकी संयमहीनता है। महाविद्यालयोंके अनैतिक वातावरणमें जो नित्यप्रति लज्जास्पद घटनाएँ घटती हैं, उन्हें देखते हुए भी सह-शिक्षाका पक्षपात करना उचित नहीं। प्राचीन कालमें किसी भी गुरुकुलमें कन्याओंकी शिक्षाका उल्लेख नहीं मिलता, किंतु वे अशिक्षिता भी नहीं होती थीं। माता-की गोदमें उनके मधुर नारीत्वका विकास होता था।

सह-शिक्षा होनेके कारण कन्याओंकी पढ़ाई भी पुरुषोंके ढंगपर रखनी पड़ती है, किंतु यह उचित नहीं; क्योंकि नारियोंका क्षेत्र पुरुषोंसे सर्वथा भिन्न है। पुरुष बाह्य क्षेत्रका खिलाड़ी है, स्त्री गृहकी स्वामिनी है। पुरुष और नारियोंके कार्य-क्षेत्र भिन्न हैं। आधुनिक शिक्षाद्वारा इस विभाजनपर धावा बोलना समाजमें नवीन समस्याएँ उठानेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

वर्तमान शिक्षासे नारियाँ शिक्षित होकर घरसे बाहर कदम रखने लगी हैं और इसे हम मानवीय सभ्यताका विकास समझ रहे हैं; किंतु इसके साथ यह भी स्पष्ट है कि भ्रष्टाचारके लज्जास्पद चित्र अधिक रूपमें सामने आ रहे हैं। दूसरी ओर बेकारीकी समस्याको बहुत बड़ा सहयोग भी मिल रहा है; क्योंकि स्त्रियोंके नौकरी करनेसे पुरुषका हक छीना जाता है, जिसके आश्रित पूरा कुटुम्ब रहता है। नारीत्व—मधुर भावनाएँ नारियोंकी कमजोरी नहीं, वह

एक दाम्पत्य-वैभव है, जहाँ दोनोंका जीवन कर्मक्षेत्रकी कठोर भूमिसे उतरकर विश्राम लेता है। बालकपर माँ-के जीवनकी गहरी छाया रहती है। अतः नारी यदि अपनी कोमलताको अपनी कमजोरी समझ ले तो संततिपर इसका क्या असर पड़ेगा ? बाह्य क्षेत्रमें कदम पड़नेपर संततिकी उपेक्षा होने लगेगी। कहा है, पुरुषोंमें नारीत्व आ जाय तो सोनेमें सुगन्ध है; किंतु नारियोंमें यदि पुरुषत्व आ जाय तो वे रण-चण्डीका रूप लेकर समाजको निगल सकती हैं। तात्पर्य यह कि दोनोंका क्षेत्र सर्वथा भिन्न है। अतः दोनोंकी शिक्षा-दीक्षा अलग-अलग ढंगपर होनी चाहिये। अन्यथा दोनोंके स्वाभाविक गुणोंका सम्यक् विकास न होने पायेगा।

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ८१६ से आगे]

(३)

थोड़े ही दिनोंके पश्चात् देवताका आशीर्वाद फला—विफल तो होता ही कैसे ! कुछ दिन जाते-जाते राज्यभरमें यह शुभ संवाद फैल गया कि राजरानी गर्भवती हुई हैं। सारे मद्रदेशमें इस समाचारसे प्रसन्नता छा गयी।

क्रमशः नौ मास व्यतीत हुए। यथासमय राजरानीने एक अपूर्व सुलक्षणा कन्या प्रसव की। देवताओंकी देह जैसे नाना प्रकारके शुभ लक्षणादिसे सुशोभित होती है, वैसे ही इस कन्याका शरीर भी जन्मते ही नाना शुभ लक्षणादिसे दीप्त होने लगा। जिस मुहूर्त्तमें इस अपूर्व बालिकाने धरतीका स्पर्श किया, उसी घड़ीसे धरतीने मानो एक आश्चर्यमयी शोभा धारण कर ली। कन्याके चारो ओर मानो एक उज्ज्वल प्रकाश थोड़ी देरके लिये चमक उठा। स्वर्गीय वीणा-ध्वनिके समान एक मनोहर वाद्यप्रसूतिकाके कानोंमें एकाएक झंकार उठा। महाराज अश्वपति और महारानी मालवी देवी देवताके दिये हुए उस कन्यारूपी प्रसादको मस्तकपर धारण करके स्वर्गीय आनन्दमें मग्न हो गये।

मद्रदेशका वह बड़े ही हर्षका दिन था। प्रत्येक स्थान और मन्दिरमें देवताओंकी पूजा होने लगी। सारे मार्ग और गली-कूचोंमें असंख्य पुष्पमालाएँ वायुके झोंकोंसे इधर-उधर लहराने लगीं। नगरके प्रत्येक द्वार और सभी राजपथोंमें मङ्गल-शङ्ख बजने लगे। नवजात बालिकाकी मङ्गल-कामनाके लिये अश्वपतिने उस दिन बहुत-सा दान-पुण्य भी किया। दीन-दुखियोंको इतना अन्न-धन दिया गया कि उसकी सीमा नहीं रही। अन्न-वस्त्र, धन-धान्य, पात्र आदिसे उनका घर भर गया। ब्राह्मण, पण्डित, विद्वान् दानकी वस्तुओंको गठरियाँ बाँध-बाँधकर भी अपने घर नहीं ले जा सके। सभी परम तृप्त हो गये। चारो ओर एक अत्यन्त आनन्दकी धूम मच गयी।

राज-कन्याके जन्मका समाचार सुनकर चारो ओरसे अनेक लोग राजकुमारीको देखनेके लिये आने लगे। दूर-दूरके लोग भी इसी निमित्त मद्रदेशमें आये। ब्राह्मण और ऋषि-मुनि आ-आकर उस सर्वसुलक्षणा कन्याको आशीर्वाद देने लगे। राज्यके प्रधान-प्रधान अधिकारी और सेठ-साहूकार आकर बहुमूल्य रत्न राजकुमारीको भेंटमें देने लगे। साधारण धनी और गरीब प्रजाजन खाली हाथ ही आकर राजमहलके विस्तीर्ण प्राङ्गणको जय-जयकारसे निनादित करने लगे। उनके सच्चे निस्स्वार्थ और भक्तिभरे भावके सामने मानो अश्वपतिके विपुल उत्साहकी छटा भी म्लान-सी हो गयी।

(४)

इसके बाद अश्वपतिके कितने ही दिन बड़े सुखसे कटे; किंतु सुखके दिन बहुत जल्दी बीत जाते हैं। तेरह-चौदह वर्ष न जाने कहाँ चले गये। अश्वपतिको मानो उनका भान भी नहीं रहा। धीरे-धीरे अश्वपतिकी पुत्रीने बाल्यावस्था छोड़कर किशोरावस्थामें पदार्पण किया।

सावित्री देवीकी कृपासे कन्या प्राप्त हुई है, इसलिये अश्वपतिने कन्याका नाम 'सावित्री' रखा। अवस्थाके साथ ही सावित्रीके गुण भी धीरे-धीरे बढ़ने लगे।

सावित्रीका सोनेके समान सुन्दर वर्ण धीरे-धीरे चाँदनीकी

तरह निर्मल और स्निग्ध हो उठा। कमलकी पँखड़ीके समान दोनो नेत्र गम्भीर होकर पवित्रताका खजाना बन गये। मस्तकके केश बढ़ते-बढ़ते लहराती हुई सर्पिणीके समान उसके मुख-कमलपर लहराने लगे। सावित्रीका शरीर इतना सुकोमल हो गया कि उठते-बैठते कमल-नालकी भाँति झुकता हुआ दिखायी देने लगा।

सावित्रीके मनकी सुन्दरता भी साथ-ही-साथ खिल उठी। जो एक बार उसे देख लेता या उसकी दो-चार बातें सुन लेता, वही समझ जाता कि इसका यह बाहरी सौन्दर्य इसके भीतरी सौन्दर्यका ही एक रूप है। सावित्रीने बचपनके सब खेलोंको धीरे-धीरे छोड़कर अपने असली कर्तव्यको पकड़ा। धूलमें खेलनेके बदले व्रत-पूजादि आरम्भ किये और दीन-दुखियोंकी सेवा-शुश्रूषामें चित्त लगाया।

सावित्रीके इस परिवर्तनपर अश्वपतिकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने देखा कि 'बालिका सावित्री धीरे-धीरे किशोर-अवस्थामें पहुँचकर विवाह-योग्य होती जा रही है।' यह देखकर वे सावित्रीके लिये सुयोग्य वर खोजनेमें व्याकुल हुए। मनमें विचारा कि 'मेरे केवल एक कन्या है और वह भी रूपमें लक्ष्मी और गुणमें सरस्वतीके समान है। इसलिये इस कन्याको मैं भलीभाँति खोजकर संसारके सर्वोत्तम पुरुषको ही दूँगा।' यह सोचकर अश्वपतिने देश-देशमें निपुण भाटोंको भेजा और नगर-नगरमें डौंडी पिटवा दी। कई स्थानोंके पात्रोंके गुण-दोषकी परीक्षाके लिये भी बहुत-सी व्यवस्थाएँ की गयीं। कई देशोंमें अनेक गुप्तचर नियुक्त हुए। सभी राजदूत निमन्त्रण-पत्र ले-लेकर देश-विदेशको जाने लगे।

किंतु आश्चर्य है कि इतना प्रयत्न करनेपर भी विशेष फल नहीं हुआ। ज्ञात होता है, इसमें विधाताकी इच्छा प्रबल है; क्योंकि इतनी चेष्टा करके भी अश्वपति सावित्रीके योग्य एक वर भी पसंद नहीं कर सके। लूले-लँगड़े और काने-बहरोंका भी विवाह होता है; पर खेदका विषय है कि सावित्रीके विवाहमें इतनी बाधा कैसे आयी! इतना अवश्य है कि वह अधिक रूप-गुणवती थी। उसकी सब प्रवीणताओंके बीच यही एक बाधा थी। उस रूपकी छटा मानवोंकी आँखें नहीं सह सकती थीं। जो उसकी ओर देखता था, उसीके नेत्र झुलस-से जाते थे। इसीलिये सभी उसको देवी समझकर भयभीत हो पड़ते थे। कितने ही राजा आये, राजकुमार आये, मन्त्रिपुत्र और जागीरदारोंके कुँवर आये, किंतु सावित्रीकी ओर प्रणय-दृष्टिसे देखनेको किसीकी भी आँख न उठी।

यह बात वे पहले ही सुन चुके थे कि सावित्री अपूर्व-रूप-गुणवती है। इसीसे वे लोग बन-ठनकर आये थे। पर सावित्रीके रूपमें तो ऐसी एक बिजलीकी तेजी थी, जिसे वे लोग नहीं जानते थे। अब वही तेजी देखकर उनकी आँखें बंद हो गयीं; मस्तक अपने-आप नीचे हो गये और सावित्री-की अपूर्व बालिका-मूर्तिमें वे एक अद्भुत देवी-मूर्ति देखकर शङ्कित मनसे अपने-अपने राज्योंको लौट गये।

धीरे-धीरे बात चारो ओर फैल गयी। देवताके वरसे राजा अश्वपतिके भवनमें कोई स्वर्गकी देवी आकर अवतीर्ण हुई हैं—यह बात देखते-देखते राज्यभरमें प्रसारित हो गयी। सभीने सुना कि 'राजकन्याके मुखकी ओर जो भी देखता है, उसकी आँखें मुँद जाती हैं, उसके मनमें भक्तिका उदय हो जाता है और उसका मस्तक अपने-आप उस देवीके सामने झुक जाता है।' यह बात सुनकर सभी बड़े शङ्कित हुए और विवाहार्थी होकर भी दूर रहे। किसीने उसके विवाहका प्रस्तावतक सुननेका साहस नहीं किया। इसीलिये चारो ओरसे अश्वपतिके दूत निराश होकर लौटने लगे।

देश-विदेशसे सब भाट लौट आये हैं, दूत भी अद्भुत समाचार लेकर वापस आ गये हैं। विवाहकी बात सुनते ही कई राजकुमार कानों अँगुली देते हैं और दूतोंको उल्टी-सीधी सुनाये बिना नहीं छोड़ते। कहते हैं—'वह तो हमारी पूजनीया माताके समान है, उसके लिये ऐसी बात हमसे क्यों कहते हो? नाक-कान कटवा दिये जायँगे। कितने ही उसके पीछे छले जा चुके हैं। फिर कौन इस झंझटमें पड़कर वृथा दुःख सहन करेगा?'

ऐसी बातें सुनकर अश्वपति बेसुध हो गये। हाय, इतनी आदरकी कन्या, जो आजकलमें ही इतनी बड़ी हुई है, फिर भी उसका विवाह नहीं होता! विवाह तो दूर रहा, वरतक नहीं मिल रहा है। इससे तो ज्ञात होता है कि उसके रूप, गुण और धनैश्वर्यकी मोहिनी शक्ति भी विफल हुई! यह क्या कम चिन्ताकी बात है? इसी सोच-विचारमें अश्वपतिने आहार, निद्रा—सब परित्याग कर दिये। उनकी इसी चिन्ताके साथ सावित्री दिनोंदिन और भी बढ़ने लगी।

रूप-गुणके लिये विवाह न हो, यह एक अनोखी बात है। क्योंकि रमणीका सौन्दर्य कामनाकी उत्पत्ति करना जानता है; पर वह इच्छा-त्याग भी उत्पन्न करता है, यह बात तो हमने कहीं भी नहीं सुनी। केवल सावित्रीके चरित्रमें ही

हम इस अलौकिक आश्चर्यको देख पाये हैं। सावित्री सचमुच ही रमणी-कुल-भूषण और समस्त नारियोंमें एक छद्मरहित देवी है । उसने अपने बलसे जो संसारमें धर्म फैलाया और धर्मराजको परास्त करके अपने मृतपतिको जीवित कर लौटाया, उसकी सूचना मानो इस स्थानपर मिल रही है।

सावित्रीका जब किसीसे भी विवाह नहीं हुआ, तब अश्वपतिने एक विचार स्थिर किया। वे सोचने लगे कि 'मेरी कन्या अपूर्व तेजस्विनी है । इसीसे कोई इसका पाणि-ग्रहण करनेके लिये साहस नहीं करता। इसलिये अब मैं इसका स्वयंवर रचूँगा। उसमें सावित्री अपनी इच्छासे जिसे वरण कर लेगी, वही उसका पति होगा और कदापि उसे त्याग नहीं सकेगा।'

यह सोचकर अश्वपति स्वयंवर रचनेका सुयोग ढूँढ़ने लगे। उन्होंने यथासमय कितना ही व्यय करके स्वयंवरकी रचना करायी । बहुत प्रयत्न किया, तो भी स्वयंवर-मण्डप खाली पड़ा रहा। अब सावित्री किसको वर-माल पहनाये! सोचनेकी बात है कि छोटी-बड़ी राज-कन्याओंके स्वयंवरमें हजारों राजपुत्र एकत्र हो जाते हैं, पर सावित्रीके स्वयंवरमें कोई भी नहीं आया। यह देखकर अश्वपति बहुत ही निराश हुए और दूसरा उपाय सोचने लगे।

इस बार अश्वपतिने सावित्रीको तीर्थ-यात्रामें भेजना निश्चय किया। तीर्थोंमें भ्रमण करनेसे मन पवित्र होता है, कर्म-दोष नष्ट होते हैं और अनेक लोगोंसे परिचय भी हो जाता है। सावित्री अपूर्व बुद्धिमती है। तो क्या वह इस सुयोगसे अपने पतिको स्वयं न खोज सकेगी? यही सोचकर अश्वपतिने एक दिन सावित्रीसे यह बात कही।

देव-मन्दिरोंमें शङ्ख बज रहे हैं, झालर-घंटाओंकी ध्वनि चारो ओर सुनायी दे रही है, नौबत बज रही है और भगवान्के जय-जयकारका शब्द सुनायी पड़ रहा है। सारे दिनकी उपवासी सावित्री भगवत्-पूजा समाप्त करके खाली फूलोंकी डाली हाथमें लिये हुए मूर्तिमती देवीके समान अन्तःपुरमें प्रवेश कर रही है। ऐसे ही समयमें अश्वपतिने उसे पुकारकर कहा—'बेटी! एक बार यहाँ आकर सुनो तो!'

पिताका पुकारना सुनकर सावित्री तुरंत आयी और खाली फूलोंकी डाली नीचे रखकर पिताजीको सादर प्रणामकर खड़ी रही।

अश्वपतिने एक बार सावित्रीकी ओर अच्छी तरह निगाह भरके देखा। 'सावित्रीने पंद्रह वर्ष पूर्ण कर दिये हैं। सोलहवें वर्षमें पदार्पण करनेसे उसके शरीरमें कान्तिका सागर उमड़ पड़ा है। स्वाभाविक निर्भय मुख-मण्डल लज्जावनत हो उठा है और ललाट, भौंहों एवं पलकोंके केशोंकी सुलभ सरलताके बदले एक प्रतिभामण्डित लज्जाकी छायामें आकर क्रीड़ा कर रहा है।' अश्वपतिने समझ लिया कि अब कन्याको विवाहे बिना ठीक नहीं होगा; क्योंकि धर्मका कभी लोप नहीं होने देना चाहिये। जाति जाय, कुल जाय और वंश-गौरव नष्ट हो जाय, फिर रहा क्या? इसलिये अश्वपतिने सावित्रीसे यही बात कही—'बेटी!

प्राप्तः प्रदानकालस्ते न च कश्चिद् वृणोति माम्।
स्वयमन्विच्छ भर्त्तारं गुणैः सदृशमात्मनः॥

'अर्थात् तेरे दान देनेका समय आ गया है, किंतु कोई भी तेरे लिये मुझसे प्रार्थना नहीं करता । अतएव अब तू स्वयं ही अपने गुणोंके समान पतिको ढूँढ़ ले।'

अश्वपतिने यह बात कहकर सावित्रीसे तीर्थयात्रा करनेकी बात भी कह डाली। सुनकर सावित्रीने नीचा मुख कर लिया। उसका मुख-मण्डल लाल हो उठा। उसने कोई बात नहीं कही। बात करना तो दूर रहा, गर्दनतक नहीं उठायी। तब क्या सावित्रीको लज्जा आ गयी थी? अवश्य आ गयी होगी; क्योंकि विवाहकी बात सुनकर कौन आर्य-कन्या लज्जासे संकुचित नहीं होती! पर सावित्रीके मनमें उस समय लज्जाके साथ एक और भी उत्तम भाव जाग उठा था । वह पर-दुःखसे दुःखित होनेका—पर-दुःख देखकर स्वार्थ-त्यागके अनुरागका पवित्र भाव था। सावित्री सोचने लगी—'अहा! मेरे ऐसे स्नेहमय पिता, ऐसी स्नेहमयी माता—इनको इतना दुःख और कष्ट मेरे ही लिये हो रहा है! और मेरे ही लिये उनको इतनी अशान्ति है! हाँ, मैं ही तो उनकी सारी चिन्ताका कारण हूँ। प्राण देकर भी क्या मुझे उनका यह कष्ट दूर करना उचित नहीं है? अवश्य ही उचित है। लज्जा हो तो क्या करूँ, यह गुरुभार मुझे लेना ही होगा।'

सावित्रीने इस प्रकार सोचते-सोचते थोड़ी देरमें ही अपना कर्तव्य स्थिर कर लिया। वह इसलिये नहीं कि स्वतन्त्रतासे विवाहके बारेमें प्रेमकी बातें अच्छी तरह कर सकूँगी! यह तो कुछ भी आनन्द नहीं है। बल्कि माता-पिताका दुःख दूर करना ही उसने अपना मुख्य कर्तव्य समझा

और यही सोचकर उसने इस गुरुतर भारको ग्रहण करनेमें बिल्कुल आनाकानी नहीं की। फिर भी स्थिर मनसे—विनीत भावसे वह पिताके पास खड़ी रही कि कदाचित् पिताजी और भी कुछ कहें।

अश्वपतिने फिर कहा—'बेटी, चिन्ता न करो। तुम स्थिरबुद्धि हो, शास्त्र जाननेवाली हो, बुद्धिमती हो और कर्त्तव्यपरायणा हो। इसीलिये इस गुरु भारको ग्रहण कर सकोगी, ऐसा मेरा विश्वास है। इसीसे आज तुमको यह आज्ञा देता हूँ। तुम्हारी सहायताके लिये बहुत-से मनुष्योंको तुम्हारे साथ भेजूँगा। राज्यके वृद्ध मन्त्री और दासियाँ—सभी तुम्हारे साथ जायँगे। उनकी सहायतासे अवश्य ही तुम कृतकार्य हो सकोगी। उनके साथ तीर्थोंमें और नगरोंमें भ्रमण करके जिसकी इच्छा मनमें कर आओगी, मैं विचारकर उसीके साथ तुम्हारा विवाह कर दूँगा।'

यह कहकर अश्वपतिने सावित्रीको आशीर्वाद दिया। सावित्रीने भी मस्तक नवाकर पिताजीके चरण छुए और पिताका आज्ञापालन करनेकी स्वीकृति प्रकट की। इसके बाद वह धीरे-धीरे चली गयी।

सावित्रीके चले जानेपर अश्वपतिकी दोनों आँखोंसे आँसू टपक पड़े। हाय, उनकी इतने आदरकी लक्ष्मीतुल्य कन्या, उसे भी आज पति खोजनेके लिये वनको जाना पड़ रहा है!

तदनन्तर एक दिन शुभ घड़ीमें देव-चरणोंमें पुष्पाञ्जलि चढ़ाकर सावित्री तीर्थ-भ्रमणके लिये प्रस्थित हुई। दासियाँ, कितने ही आदमी और वृद्धमन्त्री उसके साथ-साथ चले। प्रियतमा कन्याके निर्विघ्न भ्रमणके लिये अश्वपतिने किसी बातकी कमी नहीं रखी। अपूर्व सुन्दर रथ उसे लेकर चला। महाराज अश्वपति अपनी लाड़ली पुत्रीको बहुत दूरतक पहुँचाने गये।

सावित्रीका प्रिय रथ अनेक नदी-नद, उपजाऊ भूमि और वन-पर्वतोंको पार करता हुआ जाने लगा। नगरके बाहर प्रकृतिकी अपूर्व शोभा देखकर सावित्री बहुत आनन्दित हुई। प्राचीन भारतके तपोवन, उपवन और वनोंकी शोभा-सम्पदाका वर्णन जिन महात्माओंने किया है, उनकी प्रतिभा आज भी देश-विदेशमें प्रकाशित है। उस वर्णनको पढ़ते-पढ़ते एक दिन विदेशी कवि गेटे अपनेको भूलकर कह उठे थे—'वास्तवमें यदि कहीं स्वर्ग है, तो यहीं है।' इसी शोभाकी गोदमें लालित-पालित होकर हमारे ऋषि-मुनियोंने एक समय एक विश्वविजयिनी शक्तिसे जगत्को मुग्ध कर दिया था।

सावित्रीने रथमें बैठे-बैठे मार्गमें बहुत-से मनोरम दृश्य देखे। कहीं स्वच्छ-सलिला नदी कलकल शब्द करती हुई बहती जा रही है। कहीं नाना प्रकारके पक्षी श्यामल वृक्षोंकी शाखाओंपर बैठे हुए आनन्द-ध्वनि कर रहे हैं। कहीं झरनोंका निर्मल जल लहराता हुआ बह रहा है। कहीं फसलसे भरे खेतोंमें वायुके झोंकोंसे श्यामल तरङ्गें उठ रही हैं। कहीं बादलोंके टुकड़े संध्याकी लालीके साथ किलोल करते हुए दिगन्तोंको उद्भासित कर रहे हैं। कहीं शान्त तपोवनमें तपस्वियोंकी मधुर वेद-ध्वनि चारो ओर एक अद्भुत स्वर्गीय भाव फैला रही है। कहीं मेष-शावक मनोहर नृत्य कर रहे हैं, कहीं मयूर नाच रहे हैं। कहीं मृग-शिशु और गौएँ शान्त भावसे विचर रहे हैं। यह सब दृश्य देखते-देखते सावित्रीका हृदय वनकी सुन्दरतासे भर गया। वह बार-बार अँगुली उठाकर मन्त्रियोंसे इन सब दृश्योंके विषयमें बहुत-सी बातें पूछने लगी। मन्त्री भी उसे कई प्रकारकी अनेक नयी-नयी बातें सुनाकर उसका मनोरञ्जन करने लगे।

वह दिन समाप्त होनेपर केवल उसी रातके लिये वे सब एक तपस्वीके आश्रममें जाकर विश्राम करनेको उतरे। अश्वपतिकी कन्या पति खोजनेके लिये भ्रमण करनेको आयी है, यह बात जानकर आश्रमकी मुनिपत्नियाँ और मुनि-बालिकाएँ दौड़कर उसके पास आयीं। 'शिवतुल्य वर-लाभ करो' यह कहकर सबने सावित्रीको आशीर्वाद दिया। सावित्रीसे मिलकर उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। उन्हें ऐसा भासने लगा कि मानो कोई स्वर्गकी देवीके पधारनेसे हमारा तपोवन एकदम हँस उठा है। वे सावित्रीको पास बिठाकर रातभर धर्म-विषयकी अनेक बातें करती रहीं। उनकी मधुर बातें सुनते-सुनते सावित्रीके हृदयमें एक अपूर्व आनन्द भर गया। उसे प्रतीत हुआ मानो ऐसी शान्ति, ऐसा आनन्द मुझे और कहीं भी नहीं मिला था। नगरके राज-भोगकी अपेक्षा ऋषियोंकी यह शान्त वन-भूमि सावित्रीको अति पवित्र जान पड़ी। ऋषि-कन्याओंके विमल सहवाससे सावित्रीकी वह रात परम सुखसे कटी।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मुनि-पत्नियोंसे विदा ले तथा ऋषि-मुनियोंको सादर प्रणाम करके सावित्री रथमें बैठकर चली। फिर भी मार्गके बहुत-से रमणीय दृश्य सावित्रीके चित्तमें प्रसन्नता उत्पन्न करने लगे।

इस प्रकार दिनमें भ्रमण और रात्रिमें आश्रमपर विश्राम करते-करते सावित्रीने धीरे-धीरे कई तीर्थोंका भ्रमण कर डाला। साथ-ही-साथ उसने दान-पुण्य और देव-दर्शन भी जारी रखे। तीर्थ-तीर्थमें देव-दर्शन, आश्रम-आश्रममें ऋषि-मुनियोंकी वन्दना और नगर-नगरमें ब्राह्मण, पण्डित एवं दीन-दुखियोंको प्रचुर अन्न-वस्त्र-धन-रत्नादि दान करते हुए दिन-पर-दिन, सप्ताह-पर-सप्ताह और पखवाड़े-पर-पखवाड़े अतुल आनन्दसे कटने लगे। सावित्रीको मार्गकी कोई थकावट नहीं है, परिश्रम नहीं है, आलस्य नहीं है; बल्कि आनन्दसे वह भ्रमण करती है। राजाके परम स्नेह, ऋषि-मुनियोंके प्रेमपूर्ण आशीर्वाद और वनवासिनियोंके सरल, कोमल व्यवहारके कारण सावित्रीको मार्ग चलनेका कष्ट कुछ भी ज्ञात नहीं हुआ। उसके चित्तमें धीरे-धीरे मानो एक अपूर्व भाव भरने लगा, हृदय सराहनीय हो गया, धर्मका भाव अधिकाधिक दृढ़ होने लगा। इसी भावसे वह मद्रदेशकी सीमा भी पार कर गयी। मद्रदेशकी सीमाके बाहर और भी कितने ही सुन्दर-सुन्दर राज्य हैं। कितने ही सुन्दर-सुन्दर तपोवन, उपवन और आश्रमोंने भारतकी गोदको शोभित कर रखा है। सावित्री उनमें भी भ्रमण कर चुकी। वह जहाँ पहुँचती, वहीं सब उसका आदर करते थे। सावित्री भी अपने सद्गुण और मधुर व्यवहारसे उन्हें प्रसन्न कर लेती थी।

इसी तरह अनेक दिन बीत गये। केवल एक दिन सावित्रीकी मनोकामना पूर्ण होनेकी सूचना हुई। बहुत-से देश, बहुत-से तीर्थ और कई आश्रमोंमें वह भ्रमण कर चुकी थी। एक दिन संध्याकालकी वायु धीरे-धीरे उसके कपोलोंका स्पर्श कर रही थी, तथा सुदूर प्रान्तकी गोधूलि-कणिकाके साथ संध्याकी आलोक-रश्मि आकाशमें विलीन हुई जाती थी। इसी समय वह एक रमणीय काननमें एक अंधे तपस्वीकी कुटीमें आकर ठहरी। बड़े-बड़े नगरोंमें, बड़े-बड़े राजमहलोंमें, बड़े-बड़े धनियोंके घरोंमें जो रत्न नहीं मिलता है, उसी अमूल्य रत्नका इस दरिद्रकी कुटीमें पता लगा। विधाताकी क्या ही विचित्र लीला है। (क्रमशः)

बीसवीं शताब्दीके महान् तत्त्वज्ञ पुरुष श्रीमद् राजचन्द्र

(लेखक—श्रीहजारीमलजी बाँठिया)

भारत-भूमि सदासे संतोंकी उर्वरा भूमि रहती आयी है। यहाँ अनेक महापुरुष अवतीर्ण हुए हैं, जिनका स्थान विश्वके इतिहासमें बेजोड़ है। इसी शृङ्खलासे बीसवीं शताब्दीमें भी एक ऐसे ही अलौकिक, आध्यात्मिक महापुरुष श्रीमद् राजचन्द्रका आविर्भाव हुआ है, जिनकी जीवनचर्याकी अमिट छाप विश्ववन्द्य महात्मा गान्धीजी-जैसे पुरुषपर पड़ी। गान्धीजीने अहमदाबादमें आयोजित 'श्रीमद् राजचन्द्र-जयन्ती' पर सभापति-पदसे कहा था—

'मेरे जीवनपर श्रीमद् राजचन्द्र भाईका ऐसा स्थायी प्रभाव पड़ा है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। उनके विषयमें मेरे अपने विचार हैं। मैं कितने ही वर्षोंसे भारतमें धार्मिक पुरुषकी शोधमें हूँ; परंतु मैंने ऐसा धार्मिक पुरुष भारतमें अबतक नहीं देखा, जो श्रीमद् राजचन्द्र भाईके साथ प्रतिस्पर्धामें खड़ा हो सके। उनमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति थी। ढोंग, पक्षपात या राग-द्वेष न थे। उनमें एक ऐसी महती शक्ति थी, जिसके द्वारा वे प्राप्त हुए प्रसङ्गका पूर्ण लाभ उठा सकते थे। उनके लेख अंग्रेज तत्त्वज्ञानियोंकी अपेक्षा भी विचक्षण भावनामय और आत्मदर्शी हैं। योरपके तत्त्वज्ञानियोंमें मैं टालस्टायको पहली श्रेणीका और रस्किनको दूसरी श्रेणीका विद्वान् समझता हूँ, परंतु श्रीमद् राजचन्द्र भाईका अनुभव इन दोनोंसे भी चढ़ा-बढ़ा था।

'इन महापुरुषके जीवनके लेखोंको आप अवकाशके समय पढ़ेंगे तो आपपर उनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं किसी बाड़ेका नहीं हूँ और न किसी बाड़ेमें रहना ही चाहता हूँ। ये सब उपधर्म मर्यादित हैं; और धर्म तो असीम है कि जिसकी व्याख्या भी नहीं हो सकती। वे अपने जवाहरातके धंधेसे विरत होते कि तुरंत पुस्तक हाथमें लेते। यदि उनकी इच्छा होती तो उनमें ऐसी शक्ति थी कि वे एक अच्छे प्रभावशाली बैरिस्टर, जज या वायसराय हो सकते थे। यह अतिशयोक्ति नहीं, किंतु मेरे मनपर उनकी छाप है। उनकी विचक्षणता दूसरेपर अपनी छाप लगा देती थी।'

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट झलकता है कि श्रीमद् राजचन्द्र निस्संदेह एक महान् तत्त्वज्ञानी, दार्शनिक और युगपुरुष थे। महात्मा गान्धीको हम महान् मानते हैं और गान्धीजी जिसको स्वयं महान् समझते थे, वह महापुरुष निश्चय ही महान्

था, इसमें कोई भी अतिशयोक्ति नहीं है। महात्मा गान्धी जब डरबन (दक्षिण अफ्रिका) में थे, तब उनके मनमें हिंदू-धर्मके प्रति शङ्का हो गयी और उनका झुकाव ईसाई पादरियोंके उपदेशसे ईसाई-धर्मकी ओर हो गया था। उस समय उन्होंने २७ प्रश्नोंके उत्तर श्रीमद्से माँगे थे, जिनका उत्तर श्रीमद्ने मिती आसोज वदी ६ शनिवार, विक्रम संवत् १९५०को दिया। इससे गान्धीजीकी सब शङ्काओंका समाधान हो गया और उनकी हिंदू-धर्ममें पूर्ण आस्था हो गयी। सत्य, अहिंसा और दया-धर्मका मन्त्र गान्धीजीको श्रीमद् राजचन्द्र-से ही मिला था, जिसके बलपर उन्होंने हमारे देशको आजाद कराया। श्रीमद् राजचन्द्रसे गान्धीजीकी प्रथम भेंट जुलाई सन् १८९१में जब वे विलायतसे बंई आये थे, हुई थी; उसके बाद तो निरन्तर सम्पर्क बढ़ता ही गया। अब हम इस लेखमें श्रीमद्के जीवनके बारेमें कुछ संक्षेपमें बताना चाहते हैं। आशा है वह पाठकोंको हृदयगम्य होगा और उनकी जीवन-दिशाको एक नयी मोड़ देगा।

जन्म

[1]श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म विक्रम संवत् १९२४ (सन् १८६७), मिति कार्तिक सुदी पूर्णिमा रविवारके दिन काठियावाड़—मोरवी राज्यके अन्तर्गत ववाणिया गाँवमें दशा-श्रीमाली वैश्यजातिमें हुआ था। इनके पिताका नाम रवजीभाई पंचाण और माताका नाम देवबाई था। श्रीमद्के एक भाई, चार बहिनें, दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इनकी एक पुत्री श्रीमती जवलबेन अब भी मौजूद हैं, जिनके दर्शन मैंने हाल-में ही किये हैं, उनकी उम्र इस समय ६५ वर्षके लगभग है।

बाल्यावस्था

बालक राजचन्द्रकी सात वर्षकी बाल्यावस्था नितान्त खेल-कूदमें बीती थी। इस दशाका उन्होंने अपनी आत्मचर्यामें लिखा है—'सात वर्षतक एकान्त बालसुलभ खेल-कूदोंका सेवन किया। इतना मुझे उस वक्तके सम्बन्धमें याद है कि उस समय मेरी आत्मामें विचित्र कल्पनाएँ हुआ करती थीं। खेल-कूद-तकमें विजय प्राप्त करने और राजराजेश्वर-जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम जिज्ञासा होती। वस्त्र पहिनने, साफ रखने, खाने-पीने और सोने-बैठनेके सम्बन्धमें विदेही दशा थी।

'फिर भी मेरा हृदय कोमल था। वह दशा अब भी याद आती है। अबका विवेकी ज्ञान उस समयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये इतनी अधिक जिज्ञासा नहीं रहती। उस समयकी ऐसी निर्दोष दशा होनेसे वह पुनः-पुनः स्मरण हो उठती है।'

उनकी सात वर्षसे तेरह वर्षतककी आयु शिक्षा-अभ्यासमें बीती। वे बचपनसे ही मेधावी छात्र थे। उनकी स्मृति बड़ी तीव्र थी। जो पाठ शिक्षक पढ़ाता, उसका भावार्थ तत्क्षण ही वे समझ लेते और वह उन्हें कण्ठस्थ हो जाता। अपने शिक्षाकाल-के बारेमें श्रीमद् स्वयं लिखते हैं—'अभ्यासमें बहुत प्रमादी था, वाक्-पटु, खिलाड़ी और मौजी था। पाठमात्र शिक्षक पढ़ाते, उतना ही मैं पढ़कर उसका भावार्थ कह जाता। इसलिये पढ़नेकी ओरसे निश्चिन्तता थी। उस समय कल्पित बातें करनेकी मुझमें बहुत टेव थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी, वह पीछे जाँच करनेपर समात निकली। उस समय मैंने कितनेक काव्यग्रन्थ पढ़े थे। उसी प्रकार अनेक प्रकारके उपदेश-ग्रन्थ थोड़े उल्टे-सीधे मैंने देखे थे, जो प्रायः अब भी स्मृतिमें हैं।'

श्रीमद् राजचन्द्रको सात वर्षकी अल्पायुमें ही जातिस्मरण-रूप ज्ञान हो गया था। उन्हें अपने पूर्व-जन्मके भावोंका आभास हो गया था। पुनर्जन्मकी सिद्धि उन्होंने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाणोंसे की है। लघुवयमें ही उन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी। इस सम्बन्धमें एक जगह श्रीमद् राजचन्द्रने स्वयं लिखा है—

लघु वय थी, अद्भुत थयो तत्त्वज्ञान नो बोध।
अज सूचवै एमे कैं, गति अगाति का शोध॥
जे संस्कार थवा घटे, अति अभ्यासे क्याँय।
विना परिश्रम ते थयो, भव शंका शी त्याँय॥

अर्थात्—मुझे जो छोटी-सी अवस्थासे तत्त्वज्ञानका बोध हुआ है, वही पुनर्जन्मकी सिद्धि करता है; फिर गति-अगाति (पुनर्जन्म) की शोधकी क्या आवश्यकता है? तथा जो संस्कार अत्यन्त अभ्यास करनेके बाद उत्पन्न होते हैं, वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही हो गये हैं, फिर अब पुनर्जन्मकी क्या शङ्का है?

बालक राजचन्द्रपर ईश्वर-भक्तिकी छाप उनके पितामह-द्वारा पड़ी। वे श्रीकृष्णके उपासक एवं भक्त थे। बालक राजचन्द्र उनके साथ श्रीकृष्ण-कीर्तन करता। अवतारोंके चमत्कारिक जीवनसे बालक राजचन्द्र बहुत प्रभावित हुआ। किंतु धीरे-धीरे बालक राजचन्द्रका झुकाव जैनधर्मकी ओर हुआ। इसके विषयमें वे स्वयं लिखते हैं—'धीरे-धीरे मुझे उनके (जैन) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि ग्रन्थ पढ़नेको मिले। उनमें अति विनयपूर्वक सर्व जगत्-जीवोंसे मित्रताकी कामना

१. श्रीमद् राजचन्द्र ग्रंथ पृष्ठ ४०६ पृष्ठ सं० नं० ४४७।

की है। इससे मेरी प्रीति उनमें भी हुई और पहली मान्यतामें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसङ्ग आगे बढ़ा। इतना होनेपर भी स्वच्छता तथा दूसरे आचार-विचार अब भी मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगत्-कर्ता होनेमें विश्वास था। यह मेरी १३ वर्षकी अवस्थातककी चर्चा है। पीछे मैंने अपने पिताकी दुकानपर बैठना शुरू किया। मेरे अक्षरोंकी छटाके कारण जब मैं लिखनेके कार्यके लिये कच्छदरबारके यहाँ बुलाया जाता, तब वहाँ जाया करता।'

बालक राजचन्द्रने गुजराती भाषाके सिवा अन्य किसी भाषाका नियमित अभ्यास नहीं किया था। फिर भी संस्कृत, प्राकृत और मागधीपर आपका अबाध अधिकार था। आपकी क्षयोपशम शक्ति इतनी तीव्र थी कि जिस अर्थको अच्छे-अच्छे मुनि और विद्वान्लोग नहीं समझ सकते थे, उन्हें आप पूर्ण-रूपसे समझ लेते थे। कहते हैं कि श्रीमद् राजचन्द्रने सवा वर्षके भीतर ही सब आगमोंको हृदयंगम कर लिया था। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि जो पाठ पढ़ लेते, उसे कभी भी भूलते नहीं थे। अंग्रेजीका अभ्यास करनेके लिये आप एक बार राजकोट भी गये, पर वहाँ पढ़नेकी व्यवस्था न बैठनेसे वापिस ववाणियाँ लौट आये। आपकी अद्भुत पठन-पाठन एवं लेखन-शक्तिसे प्रभावित होकर कुछ श्रीमन्त आपको विद्याभ्यासके लिये काशी भेजना चाहते थे, किंतु श्रीमद्ने दूसरोंसे आर्थिक सहायता लेकर जाना स्वीकार नहीं किया।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश

श्रीमद् ज्यों-ज्यों वयस्क होते जा रहे थे, त्यों-त्यों उनका अध्ययन, मनन एवं चिन्तन परिपक्व होता जा रहा था। उनकी उदासीनता एवं वैराग्यभावना बढ़ती जा रही थी, किंतु पूर्वकर्मोंके भोगसे, कन्या-पक्षवालोंके 'आग्रह' और उनके प्रति 'ममत्वभाव' होनेके कारण श्रीमद्ने विवाह-प्रस्ताव स्वीकार किया था। आपका विवाह विक्रम-संवत् १९४४, माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी अवस्थामें गान्धीजीके परम मित्र डा० प्राणजीवन मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके बाद भी स्त्री एवं संसारके अन्य सुख उनको किंचिन्मात्र भी आकर्षित न कर सके। उनकी उस समय भी यही धारणा रही कि 'कुटुम्बरूपी काजलकी कोठरीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है, उसका सौंवा भाग भी उस काजलके घरमें रहनेसे नहीं हो सकता; क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।'

शतावधानका प्रयोग

तो श्रीमद् १४-१५ वर्षकी आयुसे ही अवधान-प्रयोग करने लगे थे और क्रमशः शतावधानतक पहुँच गये। उन्नीस वर्षकी अवस्थामें उन्होंने बम्बईमें डा० पिटर्सनके सभापतित्वमें एक सार्वजनिक सभामें एक सौ अवधानोंका एक साथ प्रयोग करके बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया। श्रीमद्की इस अलौकिक शक्तिकी उस समयके सभी पत्रों—पायनियर, टाइम्स आव इंडिया आदिने भूरि-भूरि प्रशंसा की और उन्हें 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधि प्रदान की। वे चाहते तो इस शक्तिद्वारा विपुल मात्रामें धन अर्जित कर सकते थे, परंतु उन्होंने थोड़े ही दिनों बाद यह प्रदर्शन बंद कर दिया।

कुशल व्यापारी

श्रीमद् राजचन्द्र परम तत्त्वज्ञानी होनेके साथ-साथ एक परम कुशल व्यापारी भी थे। उन्होंने २२-वर्षकी आयु—विक्रम संवत् १९४६ में श्रीयुत रेवाशंकर जगजीवनके साझेमें बंबईमें जवाहरात, कपड़े तथा किरानेके आयात-निर्यात-का काम शुरू किया। जवाहरातके धंधेमें बहुत कुशाग्र बुद्धिकी जरूरत होती है। वे इस धंधेमें पूरे पारखी एवं निपुण थे। श्रीमद् राजचन्द्रके व्यापारिक जीवनके बारेमें पूज्य बापू लिखते हैं—'धार्मिक मनुष्यका धर्म उसके प्रत्येक कार्यमें झलकना चाहिये। यह रायचन्द्र भाईने अपने जीवनमें बताया था। उनका व्यापार हीरे-जवाहरातका था। वे रेवाशंकर जगजीवन झवेरीके साझी थे। अपने व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रकारसे वे प्रामाणिकता बरतते थे। ऐसी उन्होंने मेरे ऊपर छाप डाली थी। वे जब सौदा करते तो मैं कभी अनायास ही उपस्थित रहता। उनकी बात स्पष्ट और एक ही होती थी। 'चालाकी'-सरीखी कोई वस्तु उनमें मैं न देखता था। दूसरेकी चालाकी वे तुरंत ताड़ जाते थे, वह उन्हें असह्य मालूम होती थी? ऐसे समय उनकी भ्रकुटि भी चढ़ जाती और आँखोंमें लाली आ जाती, यह मैं देखता था।

'धर्मकुशल लोग व्यवहार-कुशल नहीं होते, इस वहम-को रायचन्द्र भाईने मिथ्या सिद्ध करके बताया था; अपने व्यापारमें वे पूरी सावधानी और होशियारी बरतते थे। उनके जो तर्क होते थे, वे अधिकांश सच्चे ही निकलते थे। इतनी

सावधानी और होशियारी होनेपर भी वे व्यापारकी उद्विग्नता अथवा चिन्ता न करते थे। दूकानमें बैठे हुए भी जब अपना काम समाप्त हो जाता, तब उनके पास पड़ी हुई धार्मिक पुस्तक अथवा कॉपी, जिसमें वे अपने उद्गार लिखते थे, खुल जाती थी। मेरे-जैसे जिज्ञासु उनके पास रोज आते ही रहते थे और उनके साथ धर्म-चर्चा करनेमें हिचकते न थे। इस तरहके अपवाद होते हुए भी व्यवहार-कुशलता और धर्मपरायणताका सुन्दर मेल जितना मैंने कवि (रायचंद्र भाई) में देखा है, उतना किसी दूसरेमें देखनेमें नहीं आया।'

रहन-सहन

श्रीमद् राजचन्द्रका रहन-सहन अत्यन्त सादा एवं संयमित था। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के वे ज्वलंत प्रतीक थे। गान्धीजीके शब्दोंमें श्रीमद्का 'रहन-सहन, सादा और पहनाव अँगरखा, खेश, गर्म सूतका पेंट और धोती होते। भोजनके लिये जो मिलता, उसमें संतुष्ट रहते। उनकी चाल धीमी थी और देखनेवाला समझ सकता कि वे चलते-चलते भी अपने विचारोंमें मग्न हैं। आँखोंमें चमत्कार था, अत्यन्त तेजस्वी विह्वलता जरा भी न थी। आँखोंमें एकाग्रता खींची थी। चेहरा गोलाकार, होठ पतले, नाक अणिदार भी नहीं, चपटी भी नहीं, शरीर एकहरा, कद मध्यम, वर्ण श्याम और देखनेमें गम्भीर-मुद्रा थे। उनके कण्ठोंमें ऐसा माधुर्य था कि जिसको सुनते-सुनते मनुष्य थकते नहीं; चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था। उसके ऊपर अन्तरानन्दकी छाप थी। उनकी भाषा परिपूर्ण थी। ऐसा वर्णन संयमीके सम्बन्धमें ही सम्भव हो सकता है।'

महिला-उद्धारक

श्रीमद् राजचन्द्रके हृदयमें स्त्री-जातिके प्रति बड़ा सम्मान था। उन्होंने नारीको 'नरककी खान' नहीं समझा था। स्त्री-सम्बन्धी विवेचनपर श्रीमद् राजचन्द्र अपने एक पत्रमें लिखते हैं—'स्त्रीमें कोई दोष नहीं, परंतु दोष तो अपनी आत्मामें है। स्त्रीको सदाचारी ज्ञान देना चाहिये और उसे एक सत्सङ्गी समझना चाहिये। उसके साथ धर्म-बहिनका सम्बन्ध रखना चाहिये। अन्तःकरणसे किसी भी तरह माँ-बहिनमें और उसमें अन्तर न रखना चाहिये। उसके शारीरिक भागका किसी भी तरह मोहनीय कर्मके वशसे उपभोग किया जाता है। उसमें योगकी ही स्मृति रखनी चाहिये। उससे कोई संतानोत्पत्ति हो तो वह एक साधारण वस्तु है—यह समझकर [illegible]। अतएव जो निजभाव-

स्त्री-समाजको बोध देनेके लिये [illegible] श्रीमद् में 'स्त्री-नीतिबोध' नामक एक पद्यग्रन्थ [illegible] ग्रन्थमें स्त्रियोंको सुघर बननेके लिये हर [illegible] दिया है। अनमेल एवं बाल-विवाहके आप [illegible] स्त्रियोंको शिक्षा देनेकी आवश्यकतापर बल देते हुए [illegible] एक पद्यमें बताया है—

थवा देश आबाद सौ हौंस धारो, भणावी गणावी बनिता सुधारो।
थति आर्य भूमि विषे जेह हानी, करो दूर तेने तमे हित मानी॥

कवि लेखक और साहित्यकार

श्रीमद् राजचन्द्र जन्मजात कवि एवं सिद्धहस्त लेखक थे। वे संस्कारी ज्ञानी तथा साहित्यकार थे। उनकी काव्य-प्रतिभा अनूठी थी; उनकी कविता जितनी सरल है, उतनी ही मौलिक एवं सरस है। प्रत्येक कवितामें शब्द-योजना और भाव अनूठे हैं। जैसे सरिताका नीर सहज गतिसे प्रवाहित होता है, वैसे ही आपकी काव्यधारा हृदय-मन्थनका नीर है। श्रीमद्को कविताके लिये श्रम नहीं करना पड़ता था। उपराम, भक्ति, चारित्र, तत्त्वज्ञान आदि सभी विषयोंपर श्रीमद्ने गद्य एवं पद्यमें लिखा है। गान्धीजीके शब्दोंमें 'उन (श्रीमद्)के लेखोंकी एक असाधारणता यह है कि उन्होंने स्वयं जो अनुभव किया, वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं, दूसरेके ऊपर छाप डालनेके लिये उन्होंने एक लाइन भी लिखी हो यह मैंने नहीं देखा। उनके पास हमेशा कोई-न-कोई धर्मपुस्तक और एक कोरी कापी पड़ी ही रहती है। इस कापीमें वे अपने मनमें जो विचार आते, वे लिख लेते थे। ये विचार कभी गद्यमें और कभी पद्यमें होते थे।'

श्रीमद्ने ८ वर्षकी उम्रसे कविता करना शुरू कर दिया था। ९ वें वर्षमें रामायण और महाभारतको संक्षिप्तमें पद्योंमें लिख दिया था। १० वर्षकी उम्रमें आपके विचार काफी परिपक्व हो गये थे। ११ वर्षकी उम्रमें आपने कई निबन्ध लिखे, जिनपर उन्हें पारितोषिक मिला। १२ वर्षकी उम्रमें 'घड़ियाल'पर तीन सौ पंक्तियोंकी एक कविता लिखी। 'स्त्री-नीतिबोध', 'काव्यमाला', 'वचन-सप्तशती' और चौथी रचना 'पुष्पमाला—ये सब श्रीमद्को १६ वर्षके पूर्वकी रचनाएँ हैं। जिस तरह जापमालाके १०८ दाने होते हैं, उसी तरह श्रीमद् राजचन्द्रने सुबह-शाम, निवृत्तिके समय पाठ करनेके लिये

१०८ राजा, वकील, श्रीमंत, बालक, युवा, वृद्ध, धर्माचार्य, कृपण, दुराचारी, कसाई आदि सभी तरहके लोगोंके लिये हितकारी वचन लिखे हैं। श्रीमद्की पाँचवीं रचना 'मोक्षमाला' है। यह सोलह वर्ष, पाँच महीनेकी आयुमें लिखी गयी थी। मोक्षमालामें जैनधर्मके सिद्धान्तोंका सरल और आधुनिक शैलीसे १०८ पाठोंमें रोचक वर्णन किया गया है। सब दुःखोंकी जननी 'तृष्णा' है। तृष्णाकी विचित्रताका किस सुन्दर ढंगसे मोक्षमालामें श्रीमद्ने वर्णन किया है, यथा—

करोचळी पड़ी डाढी डांचातणो दाट वळ्यो,
काळी केशपटी विषे, श्वेतता छवाई गई।
सुंघवूँ, साँभळवुँ ने, देखवुं ते मांडी वल्यूं,
तेम दांत आवळी ते, खरी के खवाई गई।
वळी केड वांकी, हाड गया, अंग रंग भयो,
उठवानी आयु जता, लाकडी लेवाई गई।
अरे राजचन्द्र एम, युवानी हराई पण,
मन थी न रॉड ममता मराई गई॥

अर्थात् मुँहपर झुर्रियाँ पड़ गयीं, गाल पिचक गये, काली केशकी पट्टियाँ सफेद पड़ गयीं; सूँघने, सुनने और देखनेकी शक्तियाँ जाती रहीं और दाँत सब पड़ गये; कमर टेढ़ी हो गयी, हाड़-मांस सूख गये और शरीर काँटा हो गया, उसमें बैठनेकी शक्ति जाती रही और चलनेके लिये हाथमें लाठी लेनी पड़ गयी। अरे राजचन्द्र! इस तरह युवावस्थासे हाथ धो बैठे, परंतु फिर भी मनसे यह राँड़ ममता नहीं मरी।

विक्रम-संवत् १९४२—अठारह वर्षकी आयुमें आपने 'भावनाबोध' नामक ग्रन्थ लिखा। भावनाबोधमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, संसार, आश्रव, संवर, निर्जरा, और लोक-स्वरूप—इन १० भावनाओंका वर्णन किया गया है। तत्त्ववेत्ताओंके उपदेशका सार बताते हुए श्रीमद् कहते हैं—'इन तत्त्ववेत्ताओंने संसारसुखकी प्रत्येक सामग्रीको शोकरूप बतलाया है। यह उनके अगाध विवेकका परिणाम है। व्यास, वाल्मीकि, शंकर, गौतम, पतञ्जलि, कपिल और युवराज शुद्धोधनने अपने प्रवचनोंमें मार्मिक रीतिसे और सामान्य रीतिसे जो उपदेश किया है; उसका रहस्य नीचेके शब्दोंमें आ जाता है—'अहो प्राणियो! संसाररूपी समुद्र अनन्त और अपार है; इसको पार करनेके लिये पुरुषार्थका उपयोग करो, उपयोग करो।'

महात्मा गान्धीका प्रिय भजन—

अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे, क्या रे थईशुं बाह्यांतर निर्ग्रन्थ जो।
सर्व सम्बन्ध नुं बंधन तीक्ष्ण छेदीने, विचरीशुं क व महत्पुरुषने पंथ जो॥
सर्व भावथी औदासीन्य वृत्ति करी, मात्र देह ते संयमहेतु होय जो॥
अन्य कारणे अन्य कशुं कल्पे नहिं, देहे पण किंचित् मूर्च्छा नव जोय जो॥

इस भजनके बारेमें गान्धीजी लिखते हैं—'रायचन्द्र भाईकी १८ वर्षकी उम्रके निकले हुए अपूर्व उद्गारोंकी ये पहली दो कड़ियाँ हैं; जो वैराग्य इन कड़ियोंमें छलक रहा है, वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयसे प्रत्येक क्षणमें उनमें देखा है।'

१९ वर्षकी अवस्थामें श्रीमद् राजचन्द्रने १२० वचनोंका 'वचनामृत' लिखा है। वचनामृतके वचनोंकी मार्मिकता हृदयस्पर्शिनी है। जीवनको नयी मोड़ देनेकी रामबाण ओषधि है।

बीसवें वर्षमें श्रीमद् राजचन्द्रने प्रतिमाकी (मूर्तिपूजाकी) सिद्धिके ऊपर एक बृहद् निबन्ध लिखा था। इसमें आगम, इतिहास, पुरातत्त्व, परम्परा और अनुभवके प्रमाणसे प्रतिमा-पूजनका मण्डन किया है।

इसके बाद अन्य कई काव्य लिखे, जो तत्कालीन विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें छपे थे। कुन्द-कुन्द, पंचास्तिकाय और दशवैकालिक सूत्रकी कुछ गाथाओंका सुन्दर अनुवाद भी श्रीमद्ने किया था। बनारसीदास, आनन्दघन, चिदानन्द और यशोविजय प्रभृति मस्त योगी-संतोंके पद्य श्रीमद्को बहुत प्रिय थे। इन पदोंका सुन्दर विवेचन भी श्रीमद्ने लिखा था।

श्रीमद् राजचन्द्रकी प्रौढावस्था यानी २९ वर्षकी अवस्थामें लिखा गया ग्रन्थ 'आत्म-सिद्धि-शास्त्र' है। यह आत्मज्ञानका अमोघ शास्त्र है। इसमें १४२ पद्य हैं। यह ग्रन्थ श्रीमद्ने श्रीसौभाग्यभाई, श्रीअचलभाई आदि मुमुक्षु तथा भव्य जीवोंके हितके लिये नडियादमें रहकर बनाया था। इस ग्रन्थमें (१) आत्मा है, (२) वह नित्य है; (३) वह निज कर्मका कर्ता है, (४) वह भोक्ता है, (५) मोक्ष है, (६) मोक्षका उपाय है—इन 'छः' पदोंकी विस्तृत व्याख्या करके उसे सिद्ध किया है। इसमें कविता बड़ी ही उच्च कोटिकी है। षड्दर्शनका स्वरूप इस छोटी पुस्तकमें बहुत ही बारीकीके साथ आ गया है। इस ग्रन्थके हिंदी,

अंग्रेजी एवं मराठीमें अनुवाद हो चुके हैं। इसका अंग्रेजी अनुवाद तो स्वयं गान्धीजीने किया था।

श्रीमद् राजचन्द्रने कुछ काव्य हिंदीमें भी लिखे थे। श्रीमद्की गान्धीजीकी तरह नित्य डायरी लिखनेमें भी विशेष रुचि थी। श्रीमद्का समस्त साहित्य 'श्रीमद्राजचन्द्र' नामक विशिष्ट ग्रन्थमें 'परमश्रुत प्रभावक मण्डल', बम्बईकी ओरसे प्रकाशित हुआ है। जिज्ञासु पाठकोंकी जिज्ञासा उस ग्रन्थके पठन एवं मननसे तृप्त हो सकती है। यहाँ तो अति ही संक्षेपमें सब कुछ लिखा जा रहा है।

महान् तत्त्ववेत्ता, दार्शनिक, धर्मोपदेशक और सुधारक

श्रीमद् राजचन्द्र महान् तत्त्वज्ञानी, असाधारण दार्शनिक और संत थे। भारतके समस्त मुख्य दर्शनोंका आपने गहरा अध्ययन एवं अभ्यास किया था। जैन-तत्त्वज्ञानके आप जिस उच्च कोटिके विद्वान् थे, वेदान्त, सांख्य तथा बौद्धादि दर्शनोंमें भी आपका पाण्डित्य उतना ही विशाल एवं गहरा था। वे सभी धर्मोंका समानरूपसे आदर करते थे। 'क्षीर-नीर'के विवेकवत् सबसे साररूप ग्रहण करते थे। कुरान, जिंदअवेस्ता आदि पुस्तकें भी आप अनुवादके जरिये पढ़ गये थे।

श्रीमद् राजचन्द्रने 'आत्मा'को ही धर्मका स्वरूप समझा था। धर्मका अर्थ मत-मतान्तर नहीं। धर्म आत्माका गुण है और वह मनुष्यजातिमें दृश्य अथवा अदृश्य रूपसे विद्यमान है। धर्म वह साधन है, जिसके जरिये हम अपने-आपके 'निज स्वरूप'को स्वयं जान सकते हैं। मतों, साम्प्रदायिकता एवं बाडाबंदीके आप सख्त विरोधी थे। जैन-धर्म और समाजकी वर्तमान दशासे आप बहुत ही क्षुब्ध थे। आप दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंकी एकताके प्रबल पक्षपाती थे। आपका स्पष्ट कहना था कि दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि मत-दृष्टिसे कल्पनामात्र हैं। राग-द्वेष और अज्ञानका नष्ट होना ही जैन-मार्ग है। वे सब धर्मोंका मूल 'आत्मधर्म' मानते थे। श्रीमद् स्पष्ट शब्दोंमें कहते थे—

> भिन्न-भिन्न मत देखिये, भेद दृष्टि नो येह।
> एक तत्त्वनां मूळ मां, व्याप्या मानो तेह॥
> तेह तत्त्वरुप वृक्षनु 'आत्मधर्म' छे मूळ।
> स्वभावनी सिद्धी करे, धर्म तेज अनुकूळ॥

अर्थात् जगत्में जो भिन्न-भिन्न मत दिखायी देते हैं, वह केवल दृष्टिका भेदमात्र है। इन सबके मूलमें एक तत्त्व रहता है और वह तत्त्व आत्मधर्म है। अतएव जो निजभावकी सिद्धि करता है, वही धर्म उपादेय है।

जैन-मत और वेद-मतकी तुलना करते हुए श्रीमद् राजचन्द्रने एक बार कहा था—'जैन स्वमत है और वेद परमत है, यह हमारी दृष्टिमें नहीं है। जैनको संक्षिप्त करें तो वह वेदमत है, और वेदमतको विस्तृत करें तो वह जैनमत है। हमें तो दोनोंमें कोई बड़ा भेद नहीं प्रतीत होता।

ईश्वर-प्राप्तिके लिये सद्गुरु और सत्-शास्त्रका साधन नितान्त आवश्यक है। श्रीमद्ने जगह-जगह इन दोनोंको स्मरण किया है। श्रीमद्के रचित 'श्रीसद्गुरु-भक्ति-रहस्य' के २० दोहे प्रातः और सायं पठनीय एवं कण्ठाग्र करने योग्य हैं। एक दोहेमें आप कहते हैं—

> प्रभु, प्रभु लय लागी नहीं, पड्यो न सद्गुरु पाय।
> दीठा नहीं निज दोष तो, तरिये कौन उपाय?

और भी श्रीमद् कहते हैं—

> बिना नयन पावे नहीं, बिना नयनकी बात।
> सेवे सद्गुरुके चरन, सो पावे साक्षात॥

श्रीमद् राजचन्द्र दार्शनिकके सिवा उग्र सुधारक भी थे। रूढ़िवादियोंको आपने खूब आड़े हाथ लिया है। वे 'देशहित' कार्य करनेके लिये लोगोंको उपदेश देते थे। स्त्री-शिक्षाके लिये आपने बहुत कुछ कहा था। वर्तमान कालमें क्षयरोग (T. B) जिस त्वरितगतिसे देशमें फैल रहा है, उसके इलाजके लिये आप अपने विक्रम-सं० १९५६ वैशाख सुदी ९-के पत्रमें मोरबीसे लिखते थे—'वर्तमान कालमें क्षयरोग विशेष बढ़ा है और बढ़ता जा रहा है। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्यकी कमी, आलस्य और विषयादिकी आसक्ति है। क्षयरोग-नाशका मुख्य उपाय ब्रह्मचर्य-सेवन, शुद्ध सात्त्विक आहार-पान और नियमित वर्तन है।' इसी तरह Inoculation (महामारीका टीका) आदि क्रूर प्रथाओंका भी श्रीमद्ने घोर विरोध करके अपनी समाजसुधारक लोकोपकारक वृत्तिका परिचय दिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं—श्रीमद् राजचन्द्र 'आत्म-विकास'की उच्चदशाको पहुँचे हुए थे और इसी दशाका आपने 'शुद्ध समकित' के नामसे उल्लेख किया है। वे अपने स्ववृत्तान्तमें लिखते हैं—

> धन रे दिवस आ अहो, जागि रे शान्ति अपूर्व रे।
> दश वर्षे से, धारा उलसी, मट्यो उदयकर्म नो गर्व रे॥
> ओगणीससें ने एकत्रीसे, आव्यो अपूर्व अनुसार रे।
> ओगणीसे ने बेतालीसे, अद्भुत वैराग्य धार रे॥

ओगणीससे ने सुडतालीसे, समकित सुद्ध प्रकाश्युं रे।
श्रुत अनुभव बधती दशा, निज स्वरूप अवभास्युं रे॥

एकान्तवासी

श्रीमद् राजचन्द्रमें ज्यों-ज्यों आत्मविकास हो रहा था, त्यों-त्यों उन्हें एकान्त प्रिय लगने लगा। उन्होंने ईडरकी गुफाओंमें महीनों एकान्तवास किया था और निर्भय होकर गुजरातके अन्य पहाड़ों और वनोंमें भी आपने प्रवास किया था। वे गुप्त रहते थे, तो भी दर्शनाभिलाषी उनका पीछा करते रहते थे। ईडरमें रहते वक्त उन्होंने ईडरके राजाको भी प्रबोध दिया था। अन्तमें—

अन्तमें श्रीमद् राजचन्द्र संसारके नाना मत-मतान्तरोंसे बहुत दुखी हो गये थे। श्रीमद् बहुत बार कहा करते थे कि 'मेरे शरीरमें चारों ओरसे कोई बरछी भोंक दे तो मैं उसे सह सकता हूँ; पर जगत्में जो झूठ, पाखण्ड, अत्याचार चल रहा है, धर्मके नामपर जो अधर्म हो रहा है, उसकी बरछी मुझसे सही नहीं जाती। गान्धीजीने राजचन्द्र-जयन्तीपर कहा था—'अत्याचारोंसे उन्हें अकुलाते मैंने बहुत बार देखा है। वे (श्रीमद्) सारे जगत्को अपने कुटुम्बके-जैसा समझते थे। अपने भाई या बहिनकी मौतसे जितना दुःख हमें होता है, उतना ही दुःख उन्हें संसारमें दुःख और मृत्यु देखकर होता था।'

इस तरह श्रीमद् राजचन्द्र संसार-तापसे संतप्त थे। अत्यधिक शारीरिक और मानसिक श्रमके कारण आपका स्वास्थ्य दिनो-दिन गिरता गया। स्वास्थ्य सुधारनेके लिये आपको धर्मपुर, अहमदाबाद, वढ़वाण कैंप और राजकोट रखा गया और नाना प्रकारके इलाज कराये गये। पर सब निष्फल हुए। कालको श्रीमद् राजचन्द्र-जैसे अमूल्य रत्नका जीवन प्रिय नहीं हुआ और उन्हें इस नश्वर देहको छोड़ना पड़ा। कहते हैं कि विक्रम संवत् १९५६ में श्रीमद् राजचन्द्रने व्यवहारोपाधिसे निवृत्ति लेकर स्त्री और लक्ष्मीका परित्याग करके, अपनी मातुश्रीसे आज्ञा मिलनेपर संन्यास ग्रहण करनेकी भी तैयारी कर ली थी। मृत्यु-समय श्रीमद्का वजन १३२ पौंडसे घटकर कुल ४३ या ४४ पौंड ही रह गया था। इस तरह श्रीमद् राजचन्द्रकी आत्मा इस विनश्वर देहको विक्रम-संवत् १९५७ मिती चैत वदी ५ मङ्गलवारको दोपहरके २ बजे राजकोटमें छोड़कर प्रयाण कर गयी। देह-त्यागके ५-६ घंटा पूर्व श्रीमद्के अन्तिम उद्गार ये थे—'तुम निश्चिन्त रहना, यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाली है। तुम शान्त और समाधि-भाव वर्तन करना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहद्वारा कही जा सकती, उसके कहनेका समय नहीं। तुम पुरुषार्थ करना, मनसुख; दुखी न होना, माँको ठीक रखना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ। इस तरह वह पवित्र देह और आत्मा समाधिस्थ हो छूट गयी। लेशमात्र भी आत्माके छूट जानेके चिह्न प्रकट प्रतीत नहीं हुए। लघुशङ्का, दीर्घशङ्का, मुँहमें पानी, आँखोंमें पानी अथवा पसीना कुछ भी नहीं था। उस समय श्रीमद्का समस्त परिवार तथा गुजरात-काठियावाड़के बहुत-से मुमुक्षु उपस्थित थे।

श्रीमद्के जीवनसे शिक्षा

श्रीमद् राजचन्द्रके सम्पूर्ण जीवन और ज्ञानसे गान्धीजीके प्रवचनानुसार हमें चार बातोंकी शिक्षा मिलती है—(१) शाश्वत वस्तु (आत्मा) में तन्मयता, (२) जीवनकी सरलता, (३) समस्त संसारके साथ मैत्रीभाव, (४) सत्य-अहिंसामय जीवन।

श्रीमद् राजचन्द्र-अनुभव-वाणी

१—व्यवहारमें बालक बनो, सत्यमें युवक बनो और ज्ञानमें वृद्ध बनो।

२—राग करना नहीं, करना तो सत्पुरुषपर; द्वेष करना नहीं, करना तो कुशीलपर।

३—शूरवीर कौन ? जो स्त्रीके नयन-कटाक्षसे घायल न हो।

४—सत्पुरुषोंका क्षणभरका भी समागम संसाररूपी समुद्रको पार करनेमें नौकारूप होता है—यह वाक्य महात्मा शंकराचार्यजीका है और वह यथार्थ ही मालूम होता है।

५—तू किसी भी धर्मको मानता हो, इसका मुझे पक्षपात नहीं। कहनेका तात्पर्य इतना ही है कि जिस राहसे संसार-मलका नाश हो, उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन करना।

६—प्रजाके दुःख, अन्याय और कर, इनकी जाँच करके आज कम कर। तू भी हे राजन्! कालके घर आया हुआ पाहुना है।

७—श्रीमंत हो तो पैसेके उपयोगको विचारना। उपार्जन करनेका कारण आज ढूँढ़कर कहना।

८—तू चाहे जो धंधा करता हो, परंतु आजीविकाके लिये अन्यायसम्पन्न द्रव्यका उपार्जन नहीं करना।

९—'सहजात्मस्वरूप परमगुरु' का नित्य जाप करो।

मुरली और माला

(लेखक—श्रीकमलाकरजी 'साहित्यरत्न')

एक बार शरद्-पूर्णिमाके महारासमें आनन्द चरम सीमापर था। श्यामसुन्दरकी बाँसुरीसे अमृत झर रहा था और भुवनमोहिनी स्वर-लहरीपर गोपियाँ झूम-झूमकर नाच रही थीं।

बात कुछ ऐसी हुई कि नटनागरकी किसी योगिनामप्यगम्य लास्यमुद्रामें वनमालाका छोर उछलकर बाँसुरीपर झूलने लगा।

मानिनी मुरलिका हारका भार न सह सकी। उपेक्षापूर्वक उसने मालाको आड़े हाथों लिया। तमककर बोली—'तेरा यह साहस? ऊपर चढ़ने लगी अधोमुखी! निम्नगे!! अपनी सीमामें रह न?'

मालाने सुरभि बिखेरते हुए कहा—'री अधरशायिनि! कुपित क्यों होती है? चढ़कर ऊपर आ भी गयी तो क्या तेरा स्वर चुरा लूँगी? समीप हूँ, तबतक सौरभ ही ले।'

'बड़ी आयी सौरभवाली! मेरी समानता तू कैसे कर सकती है? कहाँ मैं मूर्तिमयी माया, भगवान्‌को त्रिभङ्गी बनाकर नचानेवाली और कहाँ तू नगण्य एक सुमनमाल!'

मालाने और विनम्रतासे कहा—'बहिन मायाविनि! माना तेरी महिमा अपार है। तू अधिकारके गौरवसे दृप्त है, नादब्रह्म तुझमें झंकृत है। सत्य है मैं तेरे पासंगमें भी नहीं; किंतु अरी मैं तो केवल उत्सर्गकी एक अकिंचन भावना हूँ। मेरे सुमन तो बस, मूर्तिमान् समर्पण हैं। वे नित्य इसीलिये खिलते और मुसकराते हुए बिंधते हैं कि रसिक-शिरोमणिके हृदयसे लगें और टूट भी जायँ तो चरणोंपर गिरें। मेरा प्रत्येक पुष्प केवल इतना जानता है कि हमारे पुण्य कितने महान् हैं, जो आज भक्तवत्सलके कुसुमादपि कोमल हृदयपर झूल रहे हैं; नहीं तो क्या वृन्दावनमें फूलोंकी कमी थोड़े ही है।'

'उपदेश देने लगी री सुमनाङ्गिनि!' मुरलीने कटाक्ष किया।

'उपदेश नहीं देवि! सचाई है।' वनमाला बोली। 'तू सोच तो सही, विश्वकी वनराजिमें क्या बाँसोंका अभाव है? तुझ-जैसी करोड़ों बाँसुरियाँ बन सकती हैं। हम क्यों न इसे अपना अहोभाग्य मानें कि सर्वाधारने तुझे अधरसे लगाया और मुझे हृदयसे। गहराईसे विचार करके देख कि तेरे माधुर्यमें स्वर किसका है—उसीका न, जिसका सौरभ मेरी पाँखुरी-पाँखुरीमें है।'

मालाकी बात सुनकर बाँसुरीको जैसे बोध हो गया। बोली—

'अपराध हो गया री सहोदरे! क्षमा कर दे, मेरी माँ-जाई!'

और तब गद्गद होकर माला बाँसुरीसे लिपट-लिपट गयी।

मैं सदाके लिये भगवान्‌का हो गया हूँ

मेरे भगवान् कहते हैं कि तुम सब धर्मोंको छोड़कर एक ही परम धर्मको अपना लो। वह परम धर्म है—'भगवान्‌का हो जाना।' भगवान्‌में ही मन लगाना, भगवान्‌की ही भक्ति करना, भगवान्‌की ही पूजा करना, भगवान्‌को ही नमस्कार करना और भगवान्‌के ही कर्म करना। मैं ऐसा ही करता हूँ। अब मेरी मेरे भगवान्‌के अतिरिक्त न कहीं आसक्ति रही है न ममता। और मेरा सारा अहंकार सब जगहसे निकलकर एक ही जगह केन्द्रित हो गया है कि 'मैं भगवान्‌का हूँ। मैं नित्य-निरन्तर सदाके लिये भगवान्‌का हो गया हूँ।'

आस्तिकके चरणोंमें

[कहानी]

(लेखक—श्रीविजय निर्बाध)

गर्मियोंके दिन, संध्याका समय और उसपर भी मन्थर गतिसे बहती हुई शीतल बयार अपने स्पर्शसे हरी-हरी दूबपर लेटे हुए नास्तिकको बरबस ही अचेत किये दे रही थी। सहसा मन्दिरकी घण्टाने तन्द्राको भङ्ग कर दिया और कानोंमें पड़ी एक मधुर भजनकी रसभीनी पङ्क्ति—

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरा न कोई।

उसके क्रोधकी सीमा न रही और पागलोंकी भाँति वह बड़बड़ा उठा—'आखिर यह भगवान् है क्या मुसीबत? जिसे देखो, उसीकी अक्लका दिवाला निकला नजर आता है। हर वक्त राम, राम, राम······मेरी तो समझमें नहीं आता आखिर दुनियाको हो क्या गया है?'

'ऐसा न कहो दोस्त, ऐसा न कहो······उस सर्वशक्तिमान्‌की सत्ताको ऐसे अस्वीकार मत करो।' एक अदृश्य आवाजने उसके भावके तूफानको सहसा रोक दिया।

'कौन? कौन हो तुम? तुम कौन हो? सामने क्यों नहीं आते?' वह बड़बड़ाया। 'मुझे अपनी शङ्काओंका समाधान चाहिये।'

शायद वह कुछ और भी कहता, परंतु एक वयोवृद्ध साधुने उसके हृदयपर एक छाप-सी लगा दी और चाहनेपर भी कुछ क्षणके लिये वह बोल नहीं पाया।

'तुम भटक रहे हो दोस्त······भगवान्‌को इस प्रकार भूलनेसे काम नहीं चलेगा।' साधुकी वाणीमें माधुर्य था और अमिट स्नेह। 'आपके भगवान्‌को आजतक किसीने देखा भी है या वह केवल कल्पना-लोकका ही विषय रहा है?' नास्तिकने बड़ी उत्सुकतासे पूछा।

'आँखें होते हुए भी अगर कोई उसे देख न पाये तो कमी केवल देखनेवालेकी है······मेरे भगवान् तो नित्यप्रति अनेकानेक रूपोंमें लीलाका प्रदर्शन करते ही रहते हैं। ऐसा कौन-सा काम है, जो बिना उनकी सहायताके पूरा हो सकता हो?' साधुने विनम्र-सा उत्तर दिया।

'इसका मतलब हमें खाना भी आपका भगवान् खिलाता है।' उसने व्यंग्य किया। 'इसमें भी क्या संदेह है?' साधुके स्वरमें दृढ़ता थी और आँखोंमें आत्मविश्वासकी झलक।

'और यदि मैं स्वयं न खाऊँ तो क्या आपके भगवान् मुझे मार-मारकर खिलायँगे?' उसने सशङ्क-स्वरमें फिर पूछा।

प्रश्न बे-तुका होनेपर भी साधुके मुखसे निकल ही तो पड़ा, 'हाँ!' 'ठीक है तो मैं भी अब उसी समय खाना खाऊँगा, जब भगवान् मुझे मार-मारकर खिलायेंगे; अन्यथा नहीं।' कहते हुए नास्तिक सामने खड़े पीपलके वृक्षपर चढ़ने लगा और साधुके बार-बार समझानेपर भी जमीनपर नहीं उतरा।

रात हुई, साधु चला गया; किंतु नास्तिक एक कठिन व्रत लिये उसी प्रकार बैठा रहा। अगले दिन दोपहरको एक व्यक्ति विश्रामार्थ उसी पेड़के नीचे रुका, सोया और जगनेपर जल्दीमें अपने साथका खाना और पानी वहीं रखा भूलकर अपने रास्ते लगा।

भूख और प्यासने उसे हथियार डाल देनेके लिये विवश तो अनेक बार किया; किंतु निश्चयकी दृढ़ताने नास्तिकको झुकने लेशमात्र भी नहीं दिया। धीरे-धीरे साँझ बढ़ी और रात हो गयी।

अचानक ही रात्रिकी नीरवताको टापोंके स्वरने भङ्ग कर दिया और वृक्षपर बैठे हुए नास्तिकने देखे जलती हुई मशालोंके साथ उसी ओर आते हुए कुछ लुटेरे। प्रकाश बढ़ता चला गया और अन्तमें नेताके आदेशपर पूरा गिरोह आ टिका उसी पेड़के नीचे।

'वाह, चुपड़ी और दो-दो,' एक लुटेरा उछला।

'क्या है, नं० ५१०?' सरदारने उत्सुकतासे पूछा।

'खाना और ठंडा पानी!' लुटेरेने दुगने उत्साहसे जवाब दिया। रुको, इसे हाथ मत लगाना······यह किसी शरारतीका काम है, जो हमें जहर देकर तमाम माल खुद हड़प जाना चाहता है।' दृढ़ताके साथ सरदार गरजा।

मशालें अपराधीकी खोजमें दौड़ने लगीं और कुछ क्षण पश्चात् सरदार बरस पड़ा नास्तिकपर।

'नीचे उतरो······अगर जिंदगीकी खैर चाहते हो तो नीचे उतरो।' 'नहीं उतरता।' नास्तिकने वहींसे उत्तर दिया।

'नं० ७! तुम पेड़पर चढ़कर इसे नीचे फेंक दो।' सरदारकी वाणीमें विष था और आँखोंमें धधकती हुई ज्वाला।

पलक झपकते आज्ञाका पालन हुआ और पेड़पर बैठा हुआ नास्तिक बलात् नीचे फेंक दिया गया; किंतु गिरते-गिरते भी वह यह कहना नहीं भूला कि 'वह खाना नहीं खायगा' और भूलता भी कैसे, आखिर बिना मार खाये खाना न खानेका व्रत जो ले लिया था उसने।

'यह सब इसीकी शरारत है''''''नं० ७! तुम इसे मार-मारकर खाना खिलाओ''''''जिससे न रहे बाँस न बजे बाँसुरी।'

नं० ७ नास्तिकके लिये भगवान् बन गया। उसका व्रत पूरा तो हुआ; परंतु साधना बड़ी मँहगी पड़ी।

× × ×

अब यही नास्तिक संसारके लिये संत मलूकदास बन गया और अपने अनुभव एवं विश्वासको केवल दो पंक्तियोंमें ही उसने इस प्रकार व्यक्त किया—'अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम। दास मलूका कह गए सबके दाता राम'॥

मलूकदासका आलसी सम्प्रदाय देशके कोने-कोनेमें फैलना शुरू हो गया। उसके अनुयायी न काम करते न धंधा। दानका खाना और मन्दिरमें सोना—यही था उनके जीवन-यापनका एक मात्र ढंग। मुगलसम्राट् इसे सहन न कर सका और उसने निश्चय किया संतकी परीक्षाका। सहसा एक रात मन्दिर आगकी लपटोंसे चमक उठा, संतके शिष्य भाग खड़े हुए, किंतु अपने प्रमुख शिष्यके साथ संत अविचलित पड़ा रहा उसी मन्दिरमें''''''धीरे-धीरे लपटें शरीरको भस्म करने लगीं और प्रमुख शिष्य भी बड़बड़ा उठा—'अब तो उठिये गुरुदेव! लपटें शरीरको झुलसने लगीं।'

'तुझे बोलनेमें आलस्य नहीं आता।' संतने स्थिर भावसे पूछा। 'विधाताकी इच्छाको टाल कौन सकता है। यदि उसे हमारा जीवन अभीष्ट है तो यह मामूली आग क्या हमें जला सकेगी और यदि उसकी इच्छा है कि हम जल मरें तो क्या सागरमें भी आग नहीं लगती?'

खट''''''खट''''''खट, सरकारी आग बुझानेवाले संत और शिष्यकी खाट उठाकर मन्दिरसे बाहर ले आये''' संत परीक्षामें पास हुआ और मुगलसम्राट् झुक गया आस्तिकके चरणोंमें!

रस-लीला

(लेखक—कु० श्रीरैहाना तयबजी)

'जीवनमें बहुत मुसीबतोंका सामना करना पड़ता है। निराशाएँ भी आदमीको कभी-कभी इस तरह घेरती हैं कि उसका दम घुट जाय। आदमीको जीना दूभर हो जाय। इतना सब होते हुए भी कुल मिलाकर अगर अलिप्तभावसे सोचा जाय तो जिंदगी जीनेमें एक अजीब लुत्फ है। रोज नये-नये अनुभव, नये-नये विचार, मुसीबतें, निराशाएँ भी नयी-नयी। जिंदगी सचमुच एक दिलचस्प चीज है। क्या आपका भी यह अनुभव नहीं है? आपके पास रोज नये-नये लोग अपना अन्तरंग खोलने आते हैं। इसलिये जिंदगीके इस दिलचस्प पहलूका अनुभव आपको अधिक उत्कटतासे होता होगा। अपने पिछले लेखमें आपने इस बातका कुछ जिक्र किया है। अपने निजी अनुभवोंसे आप इसका ज्यादा विस्तार कर सकें तो अच्छा होगा।'

'बड़ी मजेदार चर्चा छेड़ी है तुमने, भैया! इसमें शक नहीं कि जिंदगी एक अनन्त रसलीलाही का नाम है। जैसे तुमने कहा है, दुःख हो या सुख, चैन हो या बेचैनी, आराम हो या बेआरामी, अमीरी हो या गरीबी—जीवनका हर पहलू, जीवनकी हर घटना, एक रसझरनी हुआ करती है। लोग समझते हैं (और मैं भी समझती थी) कि रस असाधारणतासे ही पैदा हो सकता है, लेकिन जीवनने मुझे सिखाया है कि जीवनकी हर बात 'साधारण' होते हुए भी सदा ही असाधारण हुआ करती है। बेशक मेरी जिंदगीमें बड़े अजीब किस्से बनते भी हैं और आते भी हैं; लेकिन जो नन्ही-नन्ही रोजमर्राकी बातें होती हैं, सो भी तो कुछ कम रसिक नहीं होतीं। अगर नयन रसद्रष्टा और रसपारख बनना सीखें तो चौबीस घंटोंमें कोई ऐसी चीज नहीं होती, जो रसविहीन हो और

जो अपनी रससाधनासे ज्यादा और ज्यादा रसिक न बनायी जा सके। हुजूरका फरमान है कि 'जिंदगीकी हर हालतमें, हर काममें, हर सम्बन्धमें हुस्न (सौन्दर्य), लुत्फ (रस) और सुरूर (आनन्द) पैदा करते सीखो। यह काफी नहीं कि तुम शुद्ध, सज्जन और अध्यात्मप्रेमी बनो। तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारा जीवन, तुम्हारी नन्ही-सी दुनियाके बागमें एक हुस्न, लुत्फ और सुरूरका महँकता फूल बन जाना चाहिये।' इस दृष्टिविन्दुने जीवनमें एक अजीब लुत्फ और रंगरस पैदा करना शुरू किया। मुझे घरके कामोंसे बड़ी बेजारगी रहा करती थी। हुजूरके फरमानको पाकर मैंने हर काम एक रसलीला बना देनेकी कोशिश शुरू की। हुजूरने फरमाया, 'वृन्दावन जानेकी कौन जरूरत है? तेरा घर ही वृन्दावन क्यों न बन जाय? जहाँ कृष्ण, वहीं वृन्दावन!' चुनांचे जब बावरचीका हिसाब-किताब लेने बैठती हूँ, तब उसे भी एक वृन्दावनी रसलीला बनानेकी कोशिश जारी रहती है! अल्लाहका दिया कितना खर्च हुआ; उसमें कौन-कौन ज्यादती हुई; कहाँ-कहाँ किफायत हो सकती है; रसोइयेने कहाँ खास चतुराई, ईमानदारी और विवेक-विचारसे काम लिया; उसने कहाँ लापरवाही की या खता खायी; उसे किस विध समझाना, हटकना या डाँटना चाहिये; कहाँ शाबाशी और कहाँ प्रोत्साहन देना चाहिये—गरज, रोज सुबह हिसाब-किताबका कार्यक्रम एक नन्ही-सी, मगर अत्यन्त रसिक सहसाधना बन जाता है, जिसमें रसोइया और मैं दोनों ही भगवान्‌के सहचर बने हुए होते हैं। जिन्हें हम 'नौकर' मानते हैं, उनका महत्त्व कुराने-पाकमें सबसे बढ़कर माना और बताया गया है। अल्लाहके सामने वह हमारे मुख्य गवाह होते हैं और होंगे। लिहाजा इन 'चाकर-सहसाधकों' के साथका सम्बन्ध और व्यवहार खास तौरसे हसीन, लतीफ और पुरसुरूर बनानेकी कोशिश करते रहना साधनाका बहुत ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण अंग होता है। एक उदाहरण दूँ। बरसों पहले हमारे यहाँ एक रसोइया था, जिसे मैं मिर्जा कहूँगी। गाँवका लड़का था। पकाता तो ठीक था, ईमानदार था, शरीफ था, मगर सदा ही फुगा-फुगा-सा, चिढ़ा-चिढ़ा-सा रहता था। हुजूरने मुझसे साधना शुरू करवायी। हुकुम हुआ कि मिर्जाके साथ स्नेह-सम्बन्ध पैदा किया जाय। उसकी खास तरीकत बतायी गयी। सुबह प्रार्थना खतम होनेपर अन्न-मन्दिर (रसोईघर) जाना और मिर्जाको 'सलामालैकुम बेटा!' कहना। रोज रातको अन्नमन्दिर जाना, मिर्जाकी खबर पूछना और 'खुदा हाफिज' या 'जय भगवान्, बेटा!' कहकर रातकी बिदाई लेना। कुछ हफ्तोंतक बस इतना ही चला। धीमे-धीमे मिर्जा पिघलने लगा, मुसकुराने लगा; जरा गरमाकर, अपनेपनसे बात करने लगा। धीमे-धीमे हम नजदीक आने लगे और चंद महीनोंमें मिर्जा मेरा बेटा कहिये, मित्र कहिये, बड़ा अंगत स्वजन बन गया। आज वह बहुत बेहतर नौकरीपर है। मगर अब भी मेरा सच्चा मित्र और सहायक माना जा सकता है। यह साधना वैसे तो बहुत सादी-सी मानी जा सकती है, मगर मैं इसे अपने जीवनके खास महत्त्वपूर्ण अनुभवोंमें अङ्कित करती हूँ। मित्रोंके बारेमें भी यही दृष्टिकोण काम करता रहता है।

एक सज्जनको मुझपर बड़ी शङ्का थी! वह बिल्कुल गड़बड़ाये-गड़बड़ाये-से रहते थे। पहले तो, उनकी समझमें न आता था कि मैं हिंदू हूँ, या मुस्लिम हूँ, क्या हूँ और क्या नहीं हूँ! अब हम रहे सहसाधक! भला जहाँ इस दरज्जे दिमागी संग्राम मचे रहें, वहाँ सहसाधना हो कैसे? हुजूरने बड़ी सादी-सी तरीकतपर चढ़ा दिया। वे सज्जन जब-जब आते, तब-तब उनके

साथ शान्त प्रार्थनामें बैठनेका हुकुम हुआ। बहस-मुबाहिसा निषिद्ध कर दिया गया। महीनों यही साधना रही कि मैं उनकी इबादतमें शरीक रहूँ। कुछ जादूई असर हो गया इसका! जब उन्होंने देखा कि मेरी शिरकतसे उनकी इबादतमें कोई बाधा यानी विघ्न या बेचैनी पैदा नहीं होती, तब उन्हें यकीन होने लगा कि मेरी साधना कैसी भी हो, मैं कम-अज-कम प्रभुविमुख या आत्मविमुख तो नहीं! इस निश्चयसे उनकी दिमागी गड़बड़ मिट गयी और आज हमारी सहसाधना बड़े मजेमें चल रही है, अल्हम्दुलिल्लाह! बिगड़े दाम्पत्यको भी हुजूर इसी तरह सुधार देते हैं। पहला फरमान यह होता है कि सुबह उठते ही पति-पत्नी सहप्रार्थना करें और सोनेसे पेश्तर भी इकट्ठी प्रार्थना कर लें। दोनों एकमेकके आशीर्वाद कमानेकी भरसक कोशिश करते रहें। आखिर सफल जीवन क्या है? कम-से-कम हाय, ज्यादा-से-ज्यादा आशीर्वाद कमाना!

(मंगल प्रभात)

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक महात्माका आतिथ्य

जिन सच्चे साधु-संतोंको हम अपनी अज्ञानताके कारण ढोंगी, लालची, आडम्बरी इत्यादि-इत्यादि समझते हैं, कभी-कभी वे भी हमारे सम्मुख इस प्रकार उपस्थित होते हैं कि उनकी एक ही करामातमें हमारे हृदयका सारा अज्ञान रफूचकर हो जाता है और उसी क्षण श्रद्धा तथा भक्तिसे उनके पाद-पद्मोंमें हमारा हृदय स्वतः ही नत हो जाता है। ऐसी अनेक आत्माएँ साधारणतया हमारे सम्मुख उपस्थित होती हैं, फिर भी हम देखते ही रह जाते हैं। अफसोस!

लगभग दो वर्ष हुए, हम तीन साथी पाताल-भुवनेश्वरकी गुफा देखने गये। यह गुफा अल्मोड़ेके गंगोलीहाट नामक क्षेत्रके निकट स्थित है। स्थान बड़ा रमणीय है, जहाँके मनोहारी दृश्य नास्तिकोंके हृदयमें आस्तिकताकी लहर-सी पैदा कर देते हैं। अस्तु! हमने गुफाकी प्रत्येक चमत्कारिताका निरीक्षण किया और खानेसे निवृत्त हो, गुफाके बाहर एक जलस्रोतके निकट, धूनी रमाये एक बाबाके सम्मुख बैठकर अपनी थकान मिटाने लगे।

महात्माजीको हम सबने दण्डवत्-प्रणाम किया। मेरे आश्चर्यकी सीमा न रही। जब मैंने देखा कि—महात्माजीके सम्मुख कैपस्टन, सीजर, नेशनल गोल्ड फ्लैक, बीड़ी, सुपारी इत्यादि-इत्यादिके पैकेट और चार दाने संतरेके भी रक्खे हैं। पास ही राम-कृष्ण-शिव आदि देवताओं और उर्वशी-जैसी अप्सराओंके रंगीन चित्र भी रक्खे हैं।

मैंने और मेरे साथियोंने यह निश्चय कर लिया कि ये महात्माजी शायद उसी श्रेणीके हैं, जो सच्चे साधु-संतोंका नाम बदनाम करते हैं। सम्भवतः मुझे उनपर क्रोध भी आया और मेरे साथी तो अंग्रेजी भाषामें उन्हें अंटसंट कहने भी लगे।

महात्माजीने हमसे परिचय पूछा और वे भगवत्-सम्बन्धी चर्चा करने लगे। उनकी भगवत्-चर्चामें भी मुझे, 'जाकी रही भावना जैसी' के अनुसार काम-क्रोध-लोभ ही दिखायी देने लगे। एकाएक कैपस्टनके डिब्बेको देखकर मेरे मुँहमें पानी भर आया; क्योंकि यहाँ पर्वतीय प्रदेशमें ऐसी सिगरेट अन्यत्र कहाँ उपलब्ध थी—आखिर मैं अपने व्यसनको काबू न कर सका। मैंने कहा—'महात्माजी! और बात तो होती रहेंगी,

हम इस समय आपके अतिथि हैं, कुछ आवभगत होनी ही चाहिये—बस, हमें एक-एक संतरा, एक-एक कैपस्टन और एक-एक सुपारीकी आवश्यकता है।'

मेरी बात सुनकर महात्माजी हँसे और इतने हँसे कि हँसते ही रहे।

हमने उन्हें पागल भी समझा।

'अब आये राहपर' वे बोले—'अच्छा बेटा, तुम सिगरेट भी पीता है!' हाँ! इच्छा बड़ी प्रबल होती है, कैपस्टनका डिब्बा देखा तो मुँहमें पानी भर आया, परंतु काश! मेरे पास कुछ नहीं है, जो मैं तुम-जैसे भोले अतिथियोंकी सेवा कर सकूँ।

उन्होंने कैपस्टनका डिब्बा उठाया—'बोले, यह लो कैपस्टन!' (डिब्बा खाली था,) वे बोले—'अच्छा सीजर पिओगे?' उन्होंने सीजरका पैकेट उठाया (वह भी खाली था)। वे हँसकर बोले, 'लो पिओ! अच्छा बीड़ी ही सही।' उन्होंने बीड़ीका बंद डिब्बा उठाकर खोला तो उसमें गोबर भरा था, 'अरे! अच्छा सुपारी चबाओगे? (पैकेट उठाकर) लो!' (वह सुपारी न थी, तुलसीकी मालाके बिखरे दाने थे)। 'लो! फिर संतरे खाओ।' (उठाकर) वह केवल संतरेका बाहरी खोखला था।

महात्माजी फिर ठहठहाकर हँसने लगे—'तृष्णा बड़ी बुरी चीज है बेटा!'

हम चित्रलिखित-से उनके सभी चमत्कार देखने लगे और समझ न पाये कि ये क्या कर रहे हैं। एकाएक मेरा एक साथी बोल उठा—'महात्माजी यह क्या! हम आपके अतिथि हैं और आप मजाक-सा कर रहे हैं।' वे हँसते हुए बोले—'बेटा! मजाक नहीं सच है और बिल्कुल वास्तविक चीजें तुम्हें दिखा रहा हूँ! देखो, यदि तुमको पीना ही है तो क्रोधको पिओ, सिगरेट नहीं। यदि तुमको खाना ही है तो अहंकार खाओ, संतरे नहीं। यदि तुमको चबाना ही है तो राग-द्वेषादि विकारोंको चबा जाओ, सुपारी नहीं और यदि तुमको पागल ही होना है तो यह देखो, (कृष्णका चित्र दिखाकर) इसके लिये बनो। (दूसरा चित्र अप्सराका दिखाकर) इसके लिये नहीं। मैं यही तुम भोले अतिथियोंका सत्कार कर सकता हूँ। जो मेरा वास्तविक आतिथ्य है, इसे ग्रहण करो।'

उस समय हमारे आत्माके सामनेसे एक परदा-सा उठता अनुभव हुआ और हमने महात्माजीके चरण पकड़ लिये।

इस घटनाको बीते आज दो साल हो गये हैं। शायद मेरे दो साथी सँभल भी गये हैं, पर मैं अभागा फिर भी न सँभल सका। काश! मैं भी सँभल पाता! चाहे मैं न सँभलूँ, पर मुझे विश्वास है कि मेरे भाई जो इस घटनाको पढ़ेंगे, सुनेंगे और समझेंगे, वे अवश्य ही सँभल जायँगे।

—देवेन्द्रकुमार गन्धर्व

(२)

कर्जदारसे शरम

श्रीरामतनु लाहिड़ीकी बहुत-सी जीवनियाँ लिखी जा चुकी हैं। उनके जीवनकी अनेक घटनाएँ शिक्षाप्रद हैं। कहते हैं एक बार वे कलकत्तेकी एक सड़कपर अपने एक मित्रके साथ चले जा रहे थे। एकाएक उन्होंने एक गलीकी मोड़पर अपने मित्रकी बाँह पकड़ ली और उसे साथ लिये एक गलीमें झपाटेके साथ घुस गये। जल्दी-जल्दी कदम रखते हुए वे चलते रहे और उस समयतक नहीं रुके, जबतक पीछे देखकर उन्होंने यह निश्चय न कर लिया कि उनका पीछा तो नहीं किया जा रहा है। उनके मित्र उनकी यह हरकत देखकर बहुत चकित हुए और कुछ समयतक तो उनके मुँहसे बोलतक न निकला। अन्तमें उन्होंने पूछा कि उनके

इस प्रकार घबराकर दौड़ पड़नेका क्या कारण था ?'

रामतनु बाबूने अबतक अपने मित्रका हाथ छोड़ दिया था। उनका दिमाग भी ठीक-ठिकाने आ गया था। उन्होंने कहा—ओह, मैंने एक आदमीको देखा था। वह दूरसे निश्चय ही हमलोगोंकी ओर आता दिखायी दे रहा था।

लेकिन इससे क्या ? उससे बचकर भागनेकी ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी और वह भी इतने विचित्र ढंगसे ? आपको उससे ऐसा डर ही क्या था ?

'असल बात यह है—रामतनु बाबूने कहा कि वह आदमी बहुत अरसेसे मेरा कर्जदार है। धन तो बहुत ज्यादा नहीं है, परंतु वह उसे वापस करनेमें असमर्थ है।' 'किन्तु उससे बचकर इस तरह भागनेका यह तो कोई कारण नहीं है।' उनके मित्रने उन्हें टोककर पूछा।

'कारण तो है। रामतनु बाबू बोले—समझो जरा, यदि हम दोनोंकी भेंट हो जाती तो हम दोनोंको ही एक दूसरेके सामने पड़नेसे शरम आती और बेचैनी महसूस होती। वह तुरंत मुझसे क्षमा माँगता और धन लौटानेका ऐसा वादा करता, जो वह कभी भी पूरा नहीं कर सकता था। असलमें ऐसे ही वादे वह पीछे करता भी रहा है। अब मैं यह चाहता था कि न तो वह लज्जित हो और न उसे मेरे कारण फिरसे झूठ ही बोलना पड़े।'

'किंतु इससे तो अच्छा यही था कि उससे आप कह देते कि आपने कर्ज छोड़ ही दिया और इस तरह सारा मामला ही हल हो जाता।' मित्रने कहा।

'शायद मैं यही करता भी, रामतनु बाबूने कहा—'परंतु फिर मुझे यह खयाल आया कि मेरे ऐसा करनेसे उसके आत्मसम्मानको चोट लगेगी। इससे बेहतर मैंने यही सोचा कि उसके सामने ही न पड़ा जाय। इससे उसका यह आत्मसम्मान बना रहेगा कि उसपर किसीका कर्ज तो चाहिये और वह उसे अवसर आनेपर अवश्य लौटा देगा। कभी-कभी आदमीका भ्रम बने रहनेसे भी उसका आत्मविश्वास नष्ट नहीं होता।'

उनके मित्र यह देखकर दंग रह गये कि रामतनु बाबूमें दूसरोंकी भावनाओंका खयाल रखनेकी कितनी क्षमता है। उनका तो यहाँतक खयाल था कि इस संसारके भीतर शायद ही इतनी सुकोमल भावनाएँ रखनेवाला दूसरा आदमी मिल सके। निश्चय ही रामतनु बाबू-जैसे मनुष्य इस धरतीपर जल्दी दिखायी नहीं देते। ('पराग')

प्रेषक—वल्लभदास बिन्नानी

(३)

यह व्यापार

भाव बढ़ने-बढ़नेकी धारणासे खरीदकर इकट्ठी की हुई मूँगफली अकस्मात् आग लगकर सब भस्मीभूत हो जायगी, ऐसी कल्पना भी किसने की थी ? लालाजीकी तो मानो छाती ही बैठ गयी। कैसे न बैठती ! दूसरोंसे रकम लेकर, जितनी खरीदी जा सकती थी, उतनी मूँगफली खरीद ली थी। भाईका अन्तकाल हुए अभी थोड़े ही दिन बीते थे कि यह घावको ताजा करनेवाली नयी विपत्ति आ गयी। इस विषादके साथ बड़ा तीखापन था। अपनी इच्छा न होते हुए भी भाईने मूर्खताभरी मूँगफलीकी खरीद की और उसकी व्यवस्था किये बिना ही वह इस दुनियाको छोड़कर चला गया और उसके बाद यह दुर्दशा आ पड़ी।

अग्निके कारण आयी इस विपत्तिके समय कितने ही व्यापारी, सगे-सम्बन्धी आश्वासन देने लालाजीके पास आये। परंतु लालाजीके इस व्यापारमें जिनकी रकम लगी थी, वे बाबू जब आये तब तो लालाजी काँप

उठे। बात शुरू होते ही लालाजीने उनसे कहा—'बाबूजी ! मैं बिल्कुल टूट गया हूँ। मेरा भाई मर गया और मुझे भी मारता गया। मेरी जरा भी इच्छा नहीं थी परंतु········'लालाजीकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। आश्वासन देने आये हुए बाबूने फोन करके अपना खाता मँगवाया।

खाता आया और बाबू उसे खोलकर उसके पन्ने उलटने लगे। लालाजी लगभग पैरोंमें पड़कर कराह उठे, बोले—'बाबूजी, घावपर नमक ! जरा तो विचार कीजिये। मैं इस समय कैसे क्या करूँगा, अभी कुछ दिन ठहरिये, पीछे········'

बात यह थी कि खाता मँगवानेवाले बाबूने लालाजी-को एक बड़ी रकम व्यापारके लिये ब्याजपर उधार दे रक्खी थी; परंतु ऐसे बुरे समयमें उन्हें खाता उलटते देखकर उक्त लालाजी घबराकर विनती कर रहे थे।

बाबूने खातेके जिस पन्नेमें उधारकी रकम लिखी थी और इकरारनामा था; उस पन्नेको खातेसे निकाला और फाड़कर दूर फेंक दिया बिना किसी हिचकके। लालाजी तो आँख फाड़कर उनकी ओर देखते रह गये। बाबूने कहा—'लालाजी, आपकी आबरू मेरी हाथमें है और मेरी आबरू आपके हाथमें है। मेरे रुपये और इकरार सब आपके भाईके साथ था। वे जीवित होते तो चाहे जिस दिन रकम वसूल हो जाती। वे गये तो उनके साथ यह उधार और इकरार भी टूट गया। छाती हो तो दूसरी रकम ले जाइयेगा। यह तो व्यापार है व्यापार।' इतना कहकर बाबूजी उठे और चलते बने।

लालाजी तो इस व्यवहारको देखकर अवाक् रह गये। अन्तरमें धन्यवाद देते रहे—वाह रे तेरी मर्दानगी, वाह तेरी खेल दिली ! धन्य।

—शशीकान्त प्र० दवे

(४)

एक अंग्रेज महानुभावकी मानवता

गत संवत् १९८२ की बात है। मैं मुगलसराय स्टेशनसे कलकत्ते जानेके लिये डाकगाड़ीके मध्यम श्रेणीके डिब्बेमें बैठा। उसी डिब्बेमें एक अंग्रेज सज्जन भी सवार हुए। वे मेरे पास बैठ गये। मैं उस समय झाड़-झाड़कर पगड़ी बाँध रहा था। अंग्रेज सज्जनने कहा—'यह तो बहुत अच्छी लगती है।' मैंने हँसकर कहा—'अच्छी लगती है तो आप क्यों नहीं बाँधते ?'

इतना सुनते ही उन्होंने पेटी खोलकर एक फोटो निकाला। फोटो उन्हींका था। इसमें उन्होंने साफा बाँध रक्खा था (जैसा सेल्वेशन आर्मीवाले बाँधते हैं)। एक दूसरा फोटो और निकाला। उसमें इनके अपने फोटोके साथ मद्रासके गवर्नरका फोटो भी था। गवर्नर महोदयके द्वारा लिखा हुआ था—'ये सज्जन बड़े दानी और आत्मबली पुरुष हैं।' मैंने उनसे इसका रहस्य पूछा। तब उन्होंने अपना कोट उतारा और पतलूनके बटन खोलकर दाहिनी जाँघका वह स्थान दिखाया, जो बहुत मांसल होता है। मैंने देखा वह समूचा स्थान कटा हुआ था। और उसमें गड्ढे पड़े थे।

फिर बटन बंद करके उन्होंने बतलाया कि "एक बार मेरा स्वास्थ्य खराब था, इसलिये मैं अस्पताल गया था। वहाँ सिविलसर्जनके पास बैठा था कि इतनेमें एक भिखारी एक आठ सालकी लड़कीको लेकर आया। उसकी छाती सड़ गयी थी और वह बहुत ही दुखी थी। सिविलसर्जन महोदयने देखकर बताया कि 'इसके अच्छे होनेका एक ही उपाय है और वह यह कि कोई स्वस्थ मनुष्य अपना ताज़ा मांस काटकर दे और इसका सड़ा अंश निकालकर वह मांस वहाँ जोड़ दिया जाय। पर ऐसा कौन करेगा ?' मैंने कहा—'सिविलसर्जन महोदय ! मेरे शरीरका मांस काटकर जोड़ दिया

जाय ।' सिविलसर्जनने कहा—'आप नशेमें हैं क्या ? इसमें कष्ट तो भयानक होगा ही, मृत्युतककी नौबत आ सकती है ।' मैंने कहा—'मैं कभी नशा करता ही नहीं ।' तब सिविलसर्जन महोदयने मुझे दूसरे दिन आनेको कहा । मैं दूसरे दिन पहुँचा और मांस काटकर उसके लगानेके लिये सारी जिम्मेवारी अपने ऊपर लेकर मैंने उनको लिख दिया । तदनन्तर डाक्टरने ५५ टुकड़े मांस काटकर लड़कीके सड़े मांसको निकालकर उस जगह जोड़ दिये । मैं बेहोश हो गया था । दो दिनके बाद मुझे होश आया । लड़की बिल्कुल अच्छी हो गयी ।"

मैंने उन अंग्रेज सज्जनसे पूछा कि आप क्या काम करते हैं ?—उन्होंने बताया कि 'मैं हिंदुस्तान आनेवाले ईरानी लोगोंकी देख-रेख रखता हूँ । मुझे इतना वेतन मिलता है ।' वेतन बड़ा था । मुझे उन्होंने बताया कि "वे अपने लिये बहुत थोड़े पैसे खर्च करके शेष सब अस्पतालोंमें दे देते हैं । इसीसे गवर्नर महोदयने उनको 'दानी' बतलाया है और शरीरका मांस काटकर दिया था, इससे 'आत्मबली' कहा है ।''

उनकी बातें सुनकर मुझे उनकी मानवताके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई । प्राचीन कालमें जो काम दधीचिने किया था, वही इन्होंने किया । तदनन्तर एक खानशामा खानेका प्लेट लाया तो उन्होंने केवल चाय-बिस्कुट लेकर और चीजें लौटा दीं—कहा कि 'ये निरामिषाहारी मारवाड़ी मेरे पास बैठे हैं—इन्हें कष्ट होगा ।' धन्य !

—हरीबकस नवलगढ़िया

(५)

रणजीतसिंहकी उदारता

पंजाबके महाराणा रणजीतसिंह बड़ी उदार प्रकृतिके व्यक्ति थे । एक बार वे कहीं जा रहे थे । उनके साथ उनके अङ्गरक्षक और सेनाके अधिनायक भी थे । जब वे शहरके बीचोबीचवाली सड़कपर पहुँचे, तब अकस्मात् एक ढेला आकर उनके माथेपर लगा । इससे उन्हें बहुत तकलीफ हुई ।

उनके अङ्गरक्षक और सेनाके लोग दौड़े और एक बुढ़ियाको लाकर उनके सामने उपस्थित कर दिया ।

बुढ़िया भयके मारे काँप रही थी । उसने हाथ जोड़कर रोते हुए कहा—'सरकार ! मेरा बच्चा तीन दिनसे भूखा था, खानेको कुछ नहीं मिला । मैंने पके बेलको देखकर ढेला मारा था । ढेला लग जाता तो बेल टूट पड़ता और उसे खिलाकर मैं बच्चेके प्राण बचा सकती, पर मेरे अभाग्यसे आप बीचमें आ गये । ढेला आपको लग गया । मैं निर्दोष हूँ । मुझे मालूम न था कि आप आ रहे हैं । नहीं तो, मैं........मुझे क्षमा कर दीजिये महाराज !'

महाराजाने करुणाभरी दृष्टिसे बुढ़ियाकी ओर देखा । फिर अपने मन्त्रीसे बोले—'बुढ़ियाको एक हजार रुपये और खानेका सामान देकर आदरपूर्वक घर भेज दो ।'

मन्त्री बोला—'यह क्या कर रहे हैं सरकार ! इसने आपको ढेला मारा, इसे तो दण्ड मिलना चाहिये ।'

महाराजा हँस पड़े । उन्होंने कहा—'मन्त्रीजी, जब निर्जीव और बिना बुद्धिवाला पेड़ ढेला मारनेपर सुन्दर फल देता है, तब मैं प्राण और बुद्धिवाला होकर इसे दण्ड कैसे दे सकता हूँ ?'

महाराजाकी बात काटनेवाला वहाँ कोई नहीं था । सबने उनकी उदारता और सरल प्रकृति देखकर श्रद्धासे सिर झुका दिये । उस बुढ़ियाको उसी दिन एक हजार रुपये और भोजनका सामान खजानेकी ओरसे दे दिया गया ।

प्रेषक—वल्लभदास बिन्नानी

(६)

प्रभुने पुकार सुन ली

एक बार मैं एक आवश्यक पुस्तक ढूँढ़ने लगी। बहुत चीज पत्रकी बहुत देरतक ढूँढ़ा, पर वह पुस्तक न [illegible] मिली। यहाँतक कि मेरा जी ऊब गया। तब मुझे भगवान्‌की याद आयी। मैंने प्रभुसे कहा—हे भगवन्! मैं दो पंक्ति गाऊँगी। अगर वह पंक्ति समाप्त होते-होते मुझको वह पुस्तक नहीं मिलेगी तो मैं आपसे निराश हो जाऊँगी। प्रभुने मेरी विनती सुन ली। तब मैं यह पंक्ति उसी समय गाने लगी—'गोविन्द हरे गोपाल हरे। जय-जय प्रभु दीनदयाल हरे।' बस, पंक्तिका समाप्त होना था कि मेरी नजर बहुत-सी चीजोंके गिचड़-पिचड़में उस पुस्तकपर पड़ गयी। मैंने भगवान्‌को धन्य-धन्य कहा और तब मेरा भगवान्‌के प्रति इतना प्रेम बढ़ गया कि मैं रोने लगी। बात छोटी-सी है पर विश्वास बढ़ानेवाली और कभी बड़ी विपत्तिसे तारनेवाली है।

—कु० उषा अग्रवाल

मैं भगवान्‌का ही हो गया

मेरे भगवान् मेरे हैं और मैं उनका हूँ। जब उनका हो गया, तब दूसरे किसीका अब मुझपर कोई अधिकार नहीं रहा। अबतक मैं धनका, धामका, कामका, नामका, मकानका, जमीनका, बड़ाईका, मानका, सम्पत्तिका, सुखका, मनका, इन्द्रियोंका—न मालूम किस-किसका गुलाम बना हुआ था और उनकी नीच गुलामीमें पड़ा नरकयन्त्रणा भोग रहा था—सुखके मोहमें पड़ा दुःखोंके समुद्रमें डूबता-उतराता था। अब मेरी सारी गुलामीकी बेड़ियाँ कट गयीं! अब मैं घरके कारागारसे मुक्त हो गया। अब मैं रागद्वेषरूपी चोरोंसे छूट गया; क्योंकि मैं सदाके लिये भगवान्‌का हो गया। मैं भगवान्‌का ही हो गया।

जानना-न-जानना

मैं क्या हूँ?
यह क्या है?
वह क्या है?
मैं नहीं जानता।
कभी जान पाऊँगा—यह भी संदिग्ध है।

पर मैं इतना जानता हूँ कि यह, वह, मैं एक-दूसरेसे अलग नहीं हैं।

कोई एकात्मताका विद्युत्-प्रवाह सबमें नित्य-निरन्तर दौड़ रहा है और कह रहा है—

'सब सब तरह एक हैं, थे, रहेंगे……
भिन्न-भिन्न, भाँति-भाँति के भासते हुए भी।'

और इस जाननेसे न जाननेकी अकुलाहट शान्त हो जाती है।

कभी भी जान पाने-न-जान पानेकी संदिग्धता सत्त्वहीन होकर रह जाती है।

जाने-पायेका-सा सहज आनन्द बाहर-भीतर [illegible] छा जाता है……सदैवके लिये।

—हरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'